

**THE BOOK WAS
DRENCHED**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182979

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—556—13-7-71—4,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81

Accession No. P. Q. H2407

Author C51E

Title यतुविदी, जगमोहनलाल -

शक नाथ यतुलसीदास : 1954

This book should be returned on or before the date last marked below.

एकनाथ व तुलसीदास

[तुलनात्मक अध्ययन]

★ ★ ★

लेखक

जगमोहनलाल चतुर्वेदी

प्रस्तावना

डॉ. रा. द. रानडे,

एम.ए., डी.लिट्.

प्रकाशक
श्री. त्र्यंबकराव महारूढकर,
अॅडव्होकेट
कार्यवाह, श्रीएकनाथ संशोधन-मंदिर,
पैठण, (औरंगाबाद).

दोन दीप एक होती ।
द्वैत-लोपे येकचि दीप्ती ॥

मुद्रक
दि. दा. गांगल, एम्.एस्सी.,
लोकसंग्रह छापखाना,
६२४ सदाशिव पेठ, पुणे २.

प्रस्तावना

बड़े हर्षका विषय है कि पं. जगमोहनलालजी चतुर्वेदी, एकनाथ संशोधन मंडल औरंगाबाद के संचालनमें 'एकनाथ व तुलसीदास' नामक ग्रन्थ प्रकाशित कर रहे हैं। मंडलके अध्यक्ष श्री बलवंतरावजी घाटे, सेशन जज, सिकन्दराबाद दक्षिणने अनुरोध किया है कि मैं उपरोक्त पुस्तककी प्रस्तावनाके रूपमें कुछ लिखूं। सौभाग्यसे संत एकनाथ तथा तुलसीदास इन दोनोंके ग्रन्थोंका अनुशीलन करनेका अवसर मुझे मिल चुका है। एकनाथकी कृतियोंका और विशेषतया एकनाथी भागवतका अध्ययन मैंने अपनी संतवचनामृत पुस्तक लिखते समय किया था और हालहीमें 'एकनाथ-वचनामृत' नामक रचना लिखनेके लिये एकनाथकी विचार-धाराका और भी अधिक उत्साहसे अध्ययन करना पड़ा है। जहाँतक गोस्वामी तुलसीदासके ग्रन्थोंका संबंध है मैं उनका रसास्वादन परमार्थ-सोपान पुस्तकको तैयार करते समय कर चुका हूँ। अतः प्रस्तुत ग्रन्थकी प्रस्तावना लिखना मेरा कर्तव्य-सा हो जाता है। इस पुस्तकके संपादनसे यह सुतरां स्पष्ट है कि इसके विद्वान् लेखक श्री. चतुर्वेदीजी मराठी और हिन्दी दोनों भाषाओंको अच्छी तरह जानते हैं। इतनाही नहीं बल्कि दोनों भाषाएँ उनको अच्छी तरह अवगत है। ऐसा न होता तो यह रचना करना उनके लिये असंभव था। सन्त एकनाथके सभी ग्रन्थ मराठी भाषामें लिखे गए हैं। और गोस्वामी तुलसीदासके सब ग्रन्थ प्रायः अवधी हिन्दीमें हैं। मामूली भाषाज्ञानसे दोनोंके ग्रन्थोंका मर्म और सार जानना अति कठिन है।

एकनाथ और तुलसीदास दोनोंने ईसवी सोलहवीं सदीके प्रारम्भमें वाङ्मय-क्षेत्रमें पदार्पण किया था। श्री एकनाथका जन्म ईसवी सन् १५३३ के लगभग या उसी साल माना गया है। उस समय तुलसीदास अपने तारुण्यमें थे। ईसवी सन् १५९९ में श्री एकनाथने इस लोककी यात्रा पूर्ण की—ऐसा माना गया है और तुलसीदासने एकनाथके कुछ वर्षोंके बाद। यद्यपि इन दोनोंकी जन्मतिथि और मरणकालके बारेमें विद्वानोंमें मतभेद पाया जाता है तथापि इन दोनोंने ईसाकी सोलहवीं सदीके मध्यमें अपनी अपनी ग्रन्थ-रचना की है—इस विषयमें उनका मतैक्य है। यह भी माना गया है कि

गोस्वामी तुलसीदासका राम-चरित-मानस और संत एकनाथकी प्रसिद्ध रचना भागवत ये दोनों ई. सन् १५७० से १५८० के दरम्यान रचे गए हैं । कहा जाता है कि रामचरित-मानस ग्रन्थ गोस्वामीजीने अयोध्यामें सन् १५७५ में पूर्ण किया और श्री एकनाथने अपनी भागवत पुस्तक उसके दो वर्ष पहिले सन १५७३ में वाराणसी मुक्तिक्षेत्रमें आनंदवनमें मणिकर्णिकामहातीरपर समाप्त की थी । उस समय श्रीएकनाथ काशीजीमें तीन साल रह चुके थे । गोस्वामी तुलसीदास तो वाराणसीके ही निवासी माने गए हैं । ये दोनों काशीमें रहते हुए एक दूसरेसे मिले थे और उनका आपसमें परिचय हुआ था यह दिखानेके लिए कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं हो चुका है । तीन सालतक श्रीएकनाथ काशीमें रहते हुए गोस्वामीजीसे मिलने नहीं पाये थे यह असंभवसी बात ज्ञात होती है । श्रीएकनाथमहाराज हिन्दी भाषासे अच्छी तरह परिचित थे और हिन्दी भाषाके रचे हुए उनके कतिपय पद भी विद्यमान हैं ।

श्री एकनाथ और गोस्वामी तुलसीदास इन दोनोंके ग्रन्थोंमें विचारसरणी और अध्यात्मोपदेशके सादृश्यकी भरमार है । इतना ही नहीं किन्तु इन दोनोंकी जीवनीमें भी निसर्गने सादृश्यको बना रखा है । दोनोंका जन्म मूलनक्षत्रपर होनेके कारण दोनोंके माता-पिता बाल्यमें ही चल बसे थे । दोनोंका पालन-पोषण उनके मातामह-पितामहके द्वारा हुआ । बाल्यसे ही दोनों परमार्थ-प्रवण थे । विरक्ति दोनोंमें पूर्ववयस्में उत्पन्न हुई थी । परन्तु विरक्तिका कारण मात्र दोनोंका भिन्न भिन्न था । गोस्वामीजीका ब्याह कुछ छोटी अवस्थामें हुआ था । एक बार स्त्रीके मायके जानेपर वे स्त्रीप्रेमवश स्त्रीसे मिलनेके लिए ससुराल आधी रात खिड़की-द्वारा पहुँचे । इस विचित्र घटनासे उनकी स्त्रीने उत्तेजित होकर उनकी निर्भर्त्सना की जिसका फल था कि उन्होंने विरक्त होकर तीर्थाटन और तपस्यामें रत होकर संसारसे मुँह मोड़ लिया । किन्तु श्री एकनाथकी कथा और थी । उनको बाल्यमेंही सपना हुआ कि वे श्रीजनार्दनस्वामीके पास जाकर शिष्यत्व करें जिस आदेशका स्वीकार करके वे बिना अपने गुरुजनोंकी आज्ञा लियेही देवगिरि चले गये, जहाँ जनार्दन-स्वामी थे । कई साल उनकी सेवामें रहकर स्वात्मबोधको प्राप्त किया, जिसके दृढीकरणके लिये वे बादमें तीर्थाटनके लिए चले गए । वापिस लौटनेके बाद

श्रीजनार्दनस्वामीजीके आदेशसेही गृहस्थाश्रमका स्वीकार किया, जिसमें वे कभी भी लिप्त नहीं थे । और प्रपंचमें अलिप्त रहकर गृहस्थाश्रमको इतना सुन्दर निबाहा कि वे प्रपंच तथा परमार्थ दोनों चलानेवालोंके लिए एक आदर्श पुरुष माने गए हैं ।

श्री एकनाथ और गोस्वामी तुलसीदास दोनों ऊँचे दर्जेके संत महात्मा कहलाये गये । दोनों ख्यातनाम हैं । दोनोंके ग्रन्थ देशभरमें लोकप्रिय हैं । और वे हिन्दी और मराठी भाषाके आकरग्रन्थ और मुकुटमणि हैं । जनता उनको प्रासादिक मानती है । वेदतुल्य उनका पारायण किया करती है । दोनों संस्कृत भाषा और वाङ्मयके अच्छे ज्ञाता थे । रामचरित-मानसकी रायबरेलीकी एक प्रति है, जिसमें बतलाया है कि गोस्वामी तुलसीदासजीने अपनी रामायणका प्रणयन करते समय और उसके पूर्वभी संस्कृतके सैंकड़ों ग्रन्थोंका परिशीलन किया था, जिनमेंसे उन्होंने सामान्य स्थलोंको उद्धृत किया है । श्री एकनाथने भी ज्ञानेश्वरमहाराजकी परम्पराकी रक्षा करते हुए श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें अध्यायपर अपना पारमार्थिक अनुभव न्योछावर कर दिया है । परमार्थकी अत्युच्च कक्षामें पहुँचनेके लिए दोनोंने नामस्मरणकोही सुलभ उपाय बतलाया है । ज्ञान, उपासना और भक्तिका प्रतिपादन दोनों समानरूपसे करते आये हैं । आत्मबोध और ब्रह्म-साक्षात्कारके लिए दोनोंने ज्ञानको आवश्यक माना है; तथापि भक्ति-रहित ज्ञानकी निंदा दोनोंने भी मुक्त-कण्ठसे की है । ज्ञानभक्तिविरहित रहेगा तो उसमें प्रेमका अभाव सा रहेगा । ऐसे रूक्ष ज्ञानका समादर लोकमें होना कठिन है । इसलिए भक्तिमार्गके साथही साथ ज्ञानमार्गकी प्रशंसा की गई है । वास्तवमें दोनोंमें कोई भेद नहीं हो सकता । जैसे गोस्वामीजीने कहा है—‘ भगतिहि ज्ञानहि नहि कछु भेदा ’ । जैसा गीतामें भी यह बात कही है कि चतुर्विध भजकोंमें चौथा ज्ञानी भक्त सबसे श्रेष्ठ है—तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिविशिष्यते’ । दूसरी बात यह है कि भक्तिमार्गका अवलम्बन हमेशा क्षेमकर होता है । जैसे गोस्वामीजीने ज्ञानी और भक्तका परमात्माके साथ सम्बन्ध दिखाते हुए कहा है कि ज्ञानी मुझे प्रौढ़ तनयके समान है और भगत बालक सुतके समान—‘ मेरे प्रौढ़ तनयसम ज्ञानी । बालक-सुतसम दास अमानी ’ । इस लिये छोटे लड़केकी चिंता

भगवानको रहती है । लड़का बड़ा हो जानेके बाद उसकी चिंता करनेकी कोई आवश्यकता नहीं रहती । भगवान जब चिंता करते हैं तो भक्तको हरनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती । ज्ञानी अपने बलपर निर्भर होते हैं । भक्तलोग अपनी चिन्ता भगवानको सौंप देते हैं । इसलिये ज्ञानी लोगोंको जो भय होता है वह भक्तलोगोंको प्रतीत नहीं होता । भक्ति नवविधा सर्व-विश्रुत है । श्रीमद्भागवतका श्लोक—“ श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ ” यह सर्व विश्रुत है और श्री एकनाथमहाराजने इस नव प्रकारकी भक्तिमें किस पुरुषने कौनसी भक्ति की यह भी दिखाया है । गोस्वामीजीकी नवविधा भक्ति अध्यात्म-रामायणनिर्दिष्ट नवविधा भक्तिके अनुसार है, यह बात समुचित रूपसे रायबरेलीकी पुस्तकम तथा अध्यात्म-रामायणको जिन्होंने पढ़ा है उन्होंने बतलायी है । तुलसीदासने इसको शबरीका आतिथ्य लेते समय श्री रामचन्द्रजीसे कहलवाया है । ये नौ प्रकार इस तरह निर्दिष्ट हैं :—

१. प्रथम भगति सन्तन्ह करि संगी । २. दूसरि रति मम कथा-प्रसंगा ॥ ३. तीसरि भक्ति अमान गुरु-पदपंकज-सेवा । ४. चौथि भगति मम गुणगण करइ कपट तजि गान ॥ ५. मन्त्रजाप मम दृढविस्वासा । पंचम भजनसो वेद-प्रकासा ॥ ६. छठ दम शील विरति बहु करमा । निरत निरन्तर सज्जन धरमा ॥ ७. सातवें मम मोहिमय जग देखा । मोते सन्त अधिक करि लेखा ॥ ८. आठवें जथा लाभ संतोषा । सपनेहुँ नहिं देखा परदोषा ॥ ९. नवम सरल सबसन छल हीना । मम भरोस हियँ हरष न दीना ॥ इस प्रकार हैं । श्रीरामचन्द्र शबरीसे कहते हैं कि—नवमह एकउ जिनके होई । नारि-पुरुष सचराचर कोई ॥ सोई अतिशय प्रिय सबरी मोरे । सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे ॥

नामके साथ रूपका भी स्मरण होना आवश्यक है । तुलसीदासजी तो कहते हैं कि—नामरूप दुइ ईश-उपाधी । उनमें एक बड़ा एक छोटा ऐसा नहीं समझना चाहिए—को बड़ छोट कहत अपराधू । तुलसीदास कहते हैं कि रूपका देखे बिना भी नाम कहे तो भगवान अधिक स्नेहसे हृदयमें आते हैं । किन्तु नामके बिना रूप करतलगत होनेपर भी पहिचान नहीं पड़ता—रूप विशेष नाम बिन जाने । करतलगत न परहिं पहिचाने ॥ सुमिरय नाम रूप

बिन देखे । आवत हृदय सनेह विशेखे ॥ एकनाथमहाराज भी कहते हैं कि नामरूपा नाहीं मेळ । अवघा वाचेचा गोंधळ ॥ उनके कहनेका सारांश यह है कि मुखसे नाम उच्चारते समय चित्त विषयोंकी ओर नहीं दौड़ना चाहिए— नाम घेतां हे वैखरी । चित्त धावें विषयावरी ॥ वह स्मरण विस्मरणके समान बेकार है । एकनाथमहाराज कहते हैं कि जो प्राणिमात्रमें ही नहीं बरन् भूतमात्रमें भगवद्भावको रखता है और देखता है वही भाव ज्ञान है और वही भक्ति भी है । सहजनिजबोधमें सवाह्याभ्यंतरमें पूर्ण परमानन्दका अनुभव होता है । हरिका नाम मुननेसे जिसको सुख नहीं होगा उसके भीतर पाप भरा हुआ है, ऐसा तू समझ । नामधारक सबसे और ब्रह्मवेत्तासे भी कोटि-गुण श्रेष्ठ होता है, ऐसा श्रीएकनाथका मत है । नामचिन्तनसे सर्वकार्योंकी सिद्धि होती है । कहते हैं कि—“ चिन्तनें तुटे आधि-व्याधि । चिन्तनें तुटतसे उपाधि ॥ चिन्तनें होय सर्वसिद्धि । एका जनार्दनाचे चरणीं ॥ ” सच्चा भाव हृदयमें रखनेसे भक्ति-मुक्ति अवश होकर घर आ जाती हैं । सच्चे भक्ति-भावसे हरिकीर्तन करें तो जनार्दन हृदयमें प्रकट होते हैं । उस समय विघ्न आवेगा तो चक्र-गदा लेकर भगवान् उसे दूर करते हैं । अद्वय भजन और अखंड स्मरणसे, कीर्तन करनेसे तत्काल मुक्ति मिलती है । इसलिये परमपावन सगुण चरित्रका वर्णन करना चाहिए । नामकी महिमा तुलसीदासने भी मुक्त कण्ठसे गाई है । उन्होंने कहा है कि—अगुन सगुनबिच नाम सुसाखी । उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी ॥ वे कहते हैं कि—निर्गुन रूप अति सुलभ सगुन न जाने कोई । भगत-हेतु भगवान् प्रभु, राम धरेउ तनु भूप । उनका निर्गुन रूपका वर्णन इस प्रकार है—सोई सच्चिदानन्दधन रामा । अज विज्ञानरूप गुनधामा ॥ व्यापक व्याप्य अखण्ड अनन्ता । अगुन अदभ गिरा-गोतीता ॥ निर्मल निराकार निर्मोहा । नित्य निरामय सुख-सन्दोहा ॥ ऐसा निर्गुन रूप प्रभु, भगतवश सगुन रूप धारण करते हैं । इसको सुनकर मुनियोंके मनमें भी भ्रम हो जाता है । एक स्थानमें तुलसीदास क्या सुन्दर कहते हैं !—अगुन सगुन दुइ ब्रह्म स्वरूपा । अकथ, अगाध, अनादि अनूपा ॥ मोरें मत बड़ नाम दुहूतें । किए जेहि युग निज बस निज बूतें ॥ निर्गुन ते एहि भाँति बड़ नाम प्रभाव अपार । कहेऊँ नाम बड़राम ते, निज विचार अनुसार ॥ नामस्मरण अप्रतिहत होनेके लिये सत्संगतिकी बड़ी आवश्यकता होती है । सर्वत्र ब्रह्मको व्यापक देखना यही सबसे बड़ी सत्संगति है ।

साक्षात्कारी पुरुषके लक्षण दोनों महापुरुषोंने अपने ग्रन्थोंमें दिए हैं। और उनमें श्री एकनाथमहाराजने विशेषरूपसे दिए हैं। वे कहते हैं कि साक्षात्कार होनेके पूर्वमें अष्ट सात्त्विक भावोंका उदय साधकके हृदयमें होता है। और इन अष्टसात्त्विक भावोंका प्रादुर्भाव होतेही ईशकृपा होती है। शरीरपर रोमांचोंका खड़ा होना, पसीनेसे भीज जाना, गात्रोंमें कम्पका प्रादुर्भाव होना, कण्ठ गद्गद होना, अश्रु-प्रवाह बहना, कण्ठस्वर बदलना, रंग फीका पड़ना और मूर्च्छातक आ जाना ये आठ सात्त्विक भाव कहलाते हैं। स्वरूपमें ऐक्यता पानेके पूर्वमें इनका प्रादुर्भाव साधकोंके हृदयमें होता है। कानोंमें मन्त्रका प्रवेश होकर वह नयनोंके सामने खड़ा हो जाता है। अथवा सब अंग उसकी आँखें बन जाते हैं। आँखोंकी भी आँखको देखनेसे जन्ममरणसे छुटकारा पा जाता है। चिन्मयरूपी आत्मज्योतिका प्रत्यक्ष करनेसे भ्रमका निरास होता है। सर्वत्र सबेरेका प्रकाश चमकने लगता है। श्रीएकनाथमहाराज अरुणोदयकी प्रार्थनारूपी काकडारतीका* वर्णन करते हुये कहते हैं—चराचर प्रकाशित हुए और गगन शोभायमान हो रहा है। निज-तेज नयनोंमें रुक गया है और भीतरी और बाहरी प्रभा एक हो रही है। आर्तिक्य नीगजन होतेही नित्य नूतन प्रतीत होता है। बाहरी आरतीके दृश्यसे नयनोंका तेज भी फैल जाता है। एकाजनार्दन उस तेजसे तन्मय हो गये। आत्मज्योतिका अनुभव एकनाथमहाराजने अपनी सबेरेकी प्रार्थनामें समाविष्ट किया है। बोधभानुका उदय होते ही अस्तमानके अंध-कारका नामनिशान भी मिट जाता है। श्री एकनाथ कहते हैं कि जब गंगाजीमें हमने गोता लगाया तब चिन्मयरूपका प्रत्यक्ष होनेसे स्वयं गंगाजी उससे पावन हो गई। वे कहते हैं कि स्वयंप्रकाशमें स्नान करके ऐक्य भावसे सब प्राणिमात्रका नमन करनाही संध्या है। ऐसी संध्या संपन्न हो जाती है तब सन्देह सब नष्ट होता है। चतुर्भुजरूपका प्रत्यक्ष करनेसे सब संसार असार हो जाता है। सर्वत्र ध्यानमें, मनमें, शयनमें श्री एकनाथ देवदर्शन ही करते हैं। देवताके बिना किसीका भी दर्शन नहीं होता। जहाँ देखे वहाँ वही दीख पड़ता है। सर्व भूतमात्रमें भगवद्भाव हो जाता है। मन राममें रँग गया और रामरूप हुआ। श्री एकनाथ कहते हैं कि हम मरकर भी जीवित हैं। सारे त्रैलोक्यको आनन्दमय अनुभूत करते हैं।

* काकडारती = मङ्गलारती.

मैं अब पूजा करना सोचता हूँ तो अपनीही पूजा दीख पड़ती है। अपनी पूजा आपको नहीं करनी चाहिए। 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्यका बोध हुआ। कोइहं सोइहं परे गए। जो दीख पड़ा सो ब्रह्म। सर्वव्यापी ब्रह्मके होनेसे दिशाओंका भी भेद नहीं जाना जाता। उत्तम भूमिमें बोये हुए गुरुवचनरूपी बीज अनंत फसलको देने लगे तो उसकी गणना किस प्रकार होती है ! श्री तुलसीदास भी कहते हैं कि—कोऊ कहे सत्य झूठ कहे कोऊ। जुगल प्रबल करि मानै। तुलसीदास परिहरै तीनि भ्रम जो आपहि पहिचाने। और भी कहते हैं—तुलसी मूरति रामकी घट घट रही समाय। जैसे मेहंदीके पातमें लाली लखी न जाय ॥ कस्तूरी कुण्डल बसै मृग ढूँढ़े वन माँहि। ऐसे घटघट राम है, दुनिया ढूँढ़न जाय ॥ घर राखे घर जात है, घर छाँड़ै घर जाय। तुलसी घर वन बीच रहु राम-प्रेम-पुर छाया ॥

श्री चतुर्वेदीने 'एकनाथ व तुलसीदास' पुस्तक तीन भागोंमें विभाजित की है। पहिले भागमें दोनोंकी जीवनी दी है। वह थोड़ेमें सुंदर है। उस प्रकरणमें भी दोनों किस प्रकार सादृश्यको रखते हैं यह कुशलतासे द्योतित किया है। दूसरा भाग दोनोंके काव्यकी अर्थात् दोनोंने अपने ग्रंथोंमें काव्यकौशल कहाँ तक अनुस्यूत किया है इसकी समालोचना है। दोनों संत होते हुए काव्य कला यह प्रधान विषय उनके ग्रंथोंका नहीं माना जा सकता। परमार्थका प्रतिपादन रोचक करनेके उद्देशसे ही दोनोंने काव्यका अवलंब किया है। तथापि काव्यकी दृष्टिसे भी दोनों ऊँचे दर्जेके कवि माने जा सकते हैं। तुलसीदासका काव्य काव्यकी दृष्टिसे कुछ सरस उतरेगा; किन्तु परमार्थका साक्षात्कार-प्रतिपादन श्री एकनाथका श्रेष्ठ माना जायगा। काव्यकी दृष्टिसे समालोचना करना ही गौण है। तथापि श्री. चतुर्वेदीजीने एक प्रकरण अलग लिखा है। वह उस पुस्तकका दूसरा भाग है व तृतीय भाग अध्यात्म-दर्शनके नामसे लिखा है जिसका विस्तार उनके ग्रंथोंको दृष्टिपथमें लानेसे इस पुस्तकमें बहुत कम मालूम पड़ता है। तथापि वह भाग महत्त्वका ज़रूर है। इस प्रकार इस ग्रंथको रचकर श्री चतुर्वेदी दोनों भाषाओंका सख्य बढ़ानेमें पूर्ण सफल हुए हैं। और आगे भी इन्होंने इस प्रकारके ग्रंथोंको लिखनेके लिये लेखकोंके सामने इस पुस्तकरूपसे आदर्श रखा है, जिसका अनुकरण कुशल लेखक अवश्यमेव करेंगे—ऐसी हम आशा करते हैं। इति शम् ।

निवाळ }
९-१-५४ }

रा. द. रानडे,
एम्. ए., डी. लिट्.

आशीर्वाद

धर्मप्राण भारतमें सन्तोंकी परम्पराका अभाव नहीं रहा है। उत्तर भारत और दक्षिण भारत, दोनों ही ओर अनेकानेक सन्त हो चुके हैं। उत्तर भारतकी सन्त-परम्परामें कबीर, नानक, सूर, तुलसी आदिका बड़ा नाम है। दक्षिण-भारतके महाराष्ट्र-सन्तोंमें ज्ञानेश्वर, एकनाथ, तुकाराम, रामदास प्रभृति महात्मा खूब विख्यात हैं। प्रस्तुत पुस्तकके लेखकने ऐसे दो सन्तोंका—तुलसीदास और एकनाथका—तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित करनेका प्रयत्न किया है।

यद्यपि श्री एकनाथमहाराजका आविर्भाव गोस्वामी तुलसीदासजीसे कुछ पीछे हुआ फिर भी दोनों सम-सामयिक कहे जा सकते हैं। दोनोंमें भाव-साम्यके अतिरिक्त कई प्रकरणोंमें चरित्र-साम्य भी है। संभव है कि दोनोंको परस्परकी रचनाएँ पढ़ने अथवा सुननेके अवसर भी मिले हों। क्योंकि दोनोंही अपने समयमें प्रसिद्धि पा चुके थे, दोनोंने पर्यटन खूब किया है और दोनोंका किसी न किसी प्रकार, काशीसे सम्बन्ध रहा है। परन्तु फिर भी उनकी रचनाओंसे प्रतीत यही होता है कि दोनोंका भाव-साम्य संस्कृत-भारती और भारतीय संस्कृतिसे प्राप्त हुई परम्पराका ही प्रभाव व्यक्त कर रहा है। दोनों सन्त थे और दोनोंके हृदयोंमें लोक-कल्याण-भावना विद्यमान थी; अतः दोनों एक दूसरेके विचार न जानते हुए भी समान रूपसे सोच भी तो सकते थे। वह जो हो; परन्तु दोनोंके तुलनात्मक विचारों और भावोंको इस प्रकार ग्रथित करके लेखक-महोदयने हिन्दी और मराठीके साहित्य-प्रेमियों तथा अध्यात्म-चिन्तकोंको बड़ी उपादेय सामग्री दे दी है इसमें कोई सन्देह नहीं।

पुस्तक प्रधानतः तीन परिच्छेदोंमें विभक्त है। प्रथम परिच्छेदमें दोनों सन्तोंकी जीवन-झाँकी दिखाई गई है, दूसरेमें उन दोनोंके काव्य-साम्यकी झलक है और तीसरेमें उन दोनोंके अध्यात्म-दर्शनकी चर्चा है। लेखक-महोदयने अच्छा ही किया जो दोनोंकी तर-तमताका मूल्यांकन

नहीं किया। सन्तोंके विषयमें कैसे कहा जाय कि कौन छोटा है, कौन बड़ा है !' को बड़ छोट कहत अपराधू।' उनका काव्य भी निसर्ग-सिद्ध प्रवाह ही समझिये जो कृत्रिमतासे दूर रहा करता है। साहित्यशास्त्री भले ही उसकी कलात्मकताके गुणदोषों और गुहता-लघुताकी विवेचना करता रहे; परन्तु एक ऐसा लेखक जिसका उद्देश्य दोनोंके साम्यका परिचय मात्र ही देनेका है, उस प्रवाहके रसबिन्दु ही पाठकोंके समक्ष उपस्थित कर देनेमें अपने श्रमकी सफलता मानेगा। कदाचित् इसी उद्देश्यसे लेखक-महोदयने दोनोंके सिद्धान्त-विभिन्नताका भी कोई दिग्दर्शन नहीं कराया।

दोनों सन्तोंने राम और कृष्णके सम्बन्धमें रचनाएँ की हैं; परन्तु गोस्वामीजीकी राम-विषयक रचना बहुत प्रसिद्ध है और श्री एकनाथ महाराजकी कृष्णविषयक रचना। लेखक-महोदयने दोनों सन्तोंकी प्रायः सभी प्रधान रचनाओंसे उपयुक्त उद्धरण चुने हैं, यद्यपि महत्ता उन्होंने राम-विषयक रचनाओंको दी है। १३० पृष्ठोंके छोटे ग्रन्थमें सभी विषयोंका विशद चित्रण हो नहीं सकता था; फिर भी जितना लिखा गया है उससे जान पड़ता है कि लेखक-महोदयने दोनों सन्त-कवियोंका अच्छा तुलनात्मक अध्ययन किया है और वे साम्यके सहारे तुलनीय अधिकसे अधिक सामग्री पाठकोंकी भेंट करनेमें समर्थ हो सके हैं। हिन्दी और मराठी एकदम पड़ोसी भाषाएँ हैं और यह आवश्यक है कि मराठीके साहित्य-प्रेमी हिन्दीकी रचनाओंका रसास्वादन कर सकें तथा इसी प्रकार हिन्दीके साहित्य-प्रेमी मराठी वाङ्मयकी माधुरीसे भिन्न हो सकें। प्रस्तुत पुस्तक इस उद्देश्यकी पूर्तिमें पर्याप्त सहायता पहुँचावेगी ऐसा मेरा विश्वास है। अतएव निश्चयही यह दोनों क्षेत्रोंमें समादृत होगी। मैं चाहता हूँ कि इस प्रकारकी पुस्तकोंकी संख्यामें नित्य नूतन वृद्धि हो। राष्ट्र-भाषाके कल्याणके लिए ऐसा प्रयास सर्वथा अभिनन्दनीय है।

राजनांदगांव (मध्यप्रदेश) }
१-१२-५३

बलदेवप्रसाद मिश्र
एम.ए., एल्एल्.बी., डी.लिट्.

आशीर्वाद

श्री. जगमोहनलाल चतुर्वेदी यांचें 'तुलसीदास व एकनाथ' हें हिंदी भाषेतून लिहिलेलें लहानसें पुस्तक वाचलें. स्वराज्य प्राप्त झाल्यानंतर आपल्यासमोर ज्या अनेक समस्या निर्माण झाल्या त्यांतली एक भाषावार प्रांतरचनेच्या प्रश्नासंबंधानें निर्माण झाली आहे. आपल्या या विस्तीर्ण देशांत अनेक भाषा बोलणारे लोक असल्याने भाषावार प्रान्तरचना हा मोठा जिव्हाळ्याचा प्रश्न होऊन राहिला आहे. या प्रश्नाच्या चर्चेत एक मोठी अडचण उत्पन्न होते ती या संशयामुळे कीं जर भाषावार प्रान्त झाले तर महत्प्रयासानें लाभलेली देशाच्या ऐक्याची भावना नाहीशी होईल, पुनः देशाचे तुकडे पडतील व ऐक्याच्या भावनेस कायमची मूठमाती मिळेल. पण ही भीति बाळगण्याचें फारसें कारण नाही. जर वेगवेगळ्या भाषिकांना एकमेकांची ओळख झाली व आपणां सर्वांचा आत्मा—सांस्कृतिक आत्मा—एकच आहे याची ओळख पटली तर ऐक्य नाहीस होण्याचें कारण नाही. याचा मार्ग म्हणजे प्रत्येक भाषाभगिनीने आपल्या शेजारणीस आपल्या रत्नांची ओळख करून देणें. यायोगें दोन्ही भाषा बोलणारांना ज्ञान होईल कीं दोघांचीं जीवनमूल्ये एकच आहेत, असा प्रत्यय यावा. 'राष्ट्र एक म्हणून उभें रहावें,' याच कल्पनेनें कै. सानेगुरुजी यांनीं आंतर भारतीची कल्पना भारतीयांच्या समोर मांडली. प्रस्तुतचें लहानसें पुस्तक या दृष्टीनें पाहिल्यास एक मोठी समस्या सोडवण्याच्या प्रयत्नांतील एक चांगलें अंग आहे, असें म्हणण्यास हरकत नाही.

भारतांत जरी अनेक भाषा बोलल्या जात होत्या व आहेत तरी भारत हा एक अखंड देश आहे याचें गमक भारतांतील तत्त्वज्ञानाच्या मूलभूत कल्पना आसेतुहिमाचळ आहेत. श्रीरामकृष्णांच्या कथा सर्व भाषांत गायिलेल्या आहेत. रामायण व महाभारत हींच सर्व भारतीयांचीं महाकाव्ये आहेत. श्री. जगमोहनलाल चतुर्वेदी यांनीं तुलसीदास व एकनाथ या दोन

थोर सत्पुरुषांचीं चरित्रें व काव्य व अध्यात्मविषयक माहिती एकच देण्यांत फार औचित्य साधलें आहे. सर्व जगांत बंधुभाव निर्माण करण्याचें सामर्थ्य संत-वाङ्मयांत आहे. तुलसीदास व एकनाथ हे महान् संत होत व यांचें वाङ्मय हें परमतत्त्वाला स्पर्श करणारें असल्यानें सर्व मानवांत बंधुभाव निर्माण करण्याचें यांत सामर्थ्य आहे. तेव्हां भारतांतील वेगवेगळ्या प्रांतांत तें वाङ्मय बंधुत्व निर्माण करील यांत संशय कसला ? यांनीं तुलना करून मांडण्यास निवडलेले थोर पुरुष संत होते, येवढेंच नव्हे तर ते समकालीन होते. श्री तुलसीदास हे श्री एकनाथापेक्षां पस्तीस वर्षांनीं वडील. जरी दोघे भिन्नप्रांतीय तरी श्रीकाशीक्षेत्रांत दोघांचा वास झालेला. नाथ पैठणकडील पण त्यांचा भागवत ग्रंथ काशींत पुरा झाला, ही गोष्ट प्रसिद्ध आहे. सर्वांत महत्त्वाची गोष्ट म्हणजे दोघांनीं हि रामकथेवर आपआपल्या भाषेंत उत्कृष्ट ग्रंथ लिहिले आहेत.

अशा या थोर कवींची तुलना करून देण्याचें सत्कार्य श्री. चतुर्वेदी यांनीं केलें आहे व त्याबद्दल त्यांचें अभिनंदन करणें अवश्य आहे.

दोन्ही साधूंचें चरित्र, काव्य व अध्यात्म यांचें थोडक्यांत वाचकांना दर्शन करून देण्याचा प्रयत्न यांत केलेला आहे. भाषा सोपी व विवेचन साधें व सरळ आहे. ओळख करून देण्याच्या दृष्टीनेंच हें पुस्तक तयार केलेलें असल्यानें स्वाभाविकच खोल तपशिलांत शिरण्याचा प्रयत्न करण्यांत आला नाही, हें चांगलें आहे. एकंदरीत प्रयत्न स्तुत्य आहे. यांनीं महाराष्ट्रांतील तर थोर पुरुषांविषयीं अशींच पुस्तकें लिहून परभाषीयांस त्यांची माहिती करून द्यावी. त्यायोगें महाराष्ट्रीय संतांची तर सेवा होईलच. पण वर म्हटल्याप्रमाणें देशापुढील एक बिकट प्रश्न सोडवण्याचा अल्प कां होईना; पण रचनात्मक प्रयत्न करून देशाच्या उन्नतीस मदत केल्याचें श्रेय प्राप्त होईल.

निवेदन

बिधि हरि-हर कवि कोविद बानी । कहत साधु-महिमा सकुचानी ।
सो मो सन कहि जात न कैसे । साक बनिक मनि-गन-गुन जैसे ।

लेखकका इस पुस्तकके लिखनेका दृष्टिकोण समालोचनात्मक व समीक्षात्मक नहीं है । “सूर सूर तुलसी शशि” की लोकोक्तिके झंझटमें जानेका इस लेखकमें न साहस है और न बुद्धिबल ही । वह तो इस तत्त्व-ज्ञानका अनुयायी है कि एक ही आत्मा सब प्राणियोंमें अनुप्राणित है । “रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव ।” अतः उसके लिए एकनाथ तुलसीदाससे भिन्न नहीं और तुलसीदास एकनाथसे भिन्न नहीं । वे एक ही आत्माके दो स्वरूप हैं । जिन तुलसी-नाथने हरिहरैक्यको प्रसारित व प्रमाणित किया उनके ऐक्यमें शंका करना कहाँतक युक्तियुक्त है ?

प्रस्तुत छोटेसे ग्रन्थमें श्रीएकनाथ व तुलसीदासके जीवन, काव्य और अध्यात्मका साम्य बतलानेका प्रयास किया गया है । लेखक इसमें कहाँतक सफल हुआ है इसका अनुमान तो सुविज्ञ पाठक ही कर सकेंगे । सन्तोंकी वाणीमें “सत्यं शिवं सुन्दरम्” सर्वत्र ही दृष्टिगोचर होता है । अतः सन्तोंके विचार, भाषा-देश-काल बाधित नहीं होते । उनका धर्म मानवधर्म होता है और उनका अवतार मानवजातिके कल्याणके लिए होता है । जब विविध धर्मोंके मूलतत्त्वोंमें साम्य पाया जाता है तो एकनाथ व तुलसीदासकी कृतियोंमें साम्य ढूँढ निकालना कोई कठिन काम नहीं है । कारण कि दोनों एक ही देश, धर्म व संस्कृतिके पुजारी थे । दोनोंका जन्म एकही-सी परिस्थितियोंमें हुआ । यद्यपि श्रीतुलसीदास श्रीएकनाथसे लगभग सैंतीस वर्ष बड़े थे और उन्होंने अपनी रामायण, भावार्थ-रामायणसे २५ वर्ष पहले लिखी तथापि दोनों समकालीन थे और दोनों एक ही भावसे प्रेरित थे— अर्थात् मृततुल्य समाजमें नवजीवन-सञ्चार करना—इतना ही नहीं दोनोंकी भाषाएँ भगिनी-भाषाएँ हैं, दोनोंके स्रोत भी एक हैं । यदि तुलसीने

वाल्मीकि और अध्यात्म-रामायणको अपना मुख्य स्रोत बनाया तो एकनाथने वाल्मीकिको प्रधानता दी और अपनी भावार्थ-रामायणमें वाल्मीकिके मूल श्लोकोंको बीच-बीचमें उद्धृत किया है । पुराणोंका पुट तो दोनोंमें पर्याप्त है ही; परन्तु एकनाथी भावार्थ-रामायणमें अधिक । शास्त्रोंके तत्त्वज्ञानका गुम्फन इस प्रकार किया गया है मानो सुवर्ण मनकोंकी मालामें वर्ण-वर्णकी मणियाँ पिरोई गई हैं ।

जिन उद्धरणोंको इस पुस्तकमें उद्धृत किया गया है वे तो ऐसे रत्न हैं जिनको किनारे ही बैठकर लेखकने प्राप्त किया है । रामायण अथाह रत्नाकर है जिसके गर्भमें न जाने कितने अमूल्य रत्न छिपे हुए हैं ! जो चाहे गोता लगाए और इन रत्नोंको ढूँढ निकाले । बहुतसे विद्वानोंने गोता लगाकर इन रत्नोंको प्राप्त किया है और बहुतसे प्राप्त कर रहे हैं; परन्तु यह ऐसा भण्डार है जो सदा अपने रत्नोंसे सम्पन्न रहेगा ।

लेखक उन सब महानुभावोंका अत्यन्त आभारी है जिन्होंने अपने ग्रन्थोंद्वारा इस महासागरका पुल बाँधकर सबके लिए इस मार्गको सुगम बना दिया है ।

अति अपार जे सरितवर, जो नृप-सेतु कराहि ।

चढ़ि पिपीलिका परम लघु, बिनु श्रम पारहि जाहि ॥

इस पुस्तकके लिखनेकी प्रेरणा लेखकको सन्त-हृदय श्रीबलवन्तराव घाटे सेशन जज औरछगाबादसे हुई जिनके सुयोगसे श्री स्वामी रामदास आनन्दाश्रम, श्री धुंडामहाराज देगलूरकर, श्री. शं. वा. दांडेकर, डॉ. शं. गो. तुळपुळे, श्री. न. र. फाटक प्रभृति सज्जनोंका दर्शनलाभ हुआ । श्रीतुलसीदासके शब्दोंमें “ पारसपरस कुधात सुहाई ”, श्रीनाथके शब्दोंमें “ घुरेते चन्दन होती । जाण संगतीं चन्दनाचे ” अथवा श्रीज्ञानदेवके शब्दोंमें “ जैसा फुलाचे नि सांगातें । तान्तु तुरंबिजे श्रीमंतें ” वैसी ही स्थिति मेरी हुई; नहीं तो कहाँ मैं मतिमन्द और कहाँ श्रीएकनाथ व तुलसीदासके अपार ग्रन्थ ! अतः मैं श्री बलवन्तराव घाटेको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ । सन्त श्री. डॉ. रानडेने मेरी पुस्तककी प्रस्तावना लिखकर मुझपर जो अनुग्रह किया है उसका औपचारिक आभार प्रदर्शन करना धृष्टता होगी, कारण कि वाणीमें हृदयके भावोंको व्यक्त करनेकी क्षमता नहीं । कविरत्न श्री सत्यनारायणके शब्दोंमें

“ प्रकट करनेको मनके भाव शब्द हैं शक्ति रहित सब आज ” अतः गुरुवर्य डॉ. रानडेके प्रति मैं अपने मूक भावोंसे ही आभार प्रदर्शन करनेके लिए विवश हूँ ।

महूनि साचा तुज लागी । स्तुती ने देखेजी जगों ।

मौनावांचूनि लेणें आंगों । सुसीना मा ॥

स्तुति कांहीं न बोलणें । पूजा कांहीं न करणें ।

सन्निधीं कांहीं न होणे तुझां ठायीं ।

ज्ञा. अ. १८।२४।२५

आशा करता हूँ कि गुरुवर्य मेरे इन भावोंको स्वीकार करेंगे । श्री धुंडामहाराज देगलूरकर और श्री रवीन्द्रका मैं अत्यन्त उपकृत हूँ जिन्होंने इस पुस्तककी पाण्डुलिपिको देखकर, उसे छपवानेकी अनुमति देकर प्रोत्साहित किया । सन्त श्री. दांडेकर और डॉ. बलदेवप्रसाद मिश्रका मैं विशेष आभारी हूँ जिन्होंने आशीर्वादस्वरूप इस पुस्तकके सम्बन्धमें दो शब्द भी लिखे हैं । मेरे मित्र श्री. वसन्तराव धाड़वारकर, श्री. भालचन्द्र तैलङ्ग व श्री. विष्णुपन्त कुलकर्णी मेरे धन्यवादके पात्र हैं जिन्होंने समय-समयपर आवश्यकीय परामर्श दिया है । श्री. शं. दा. चितळेका मैं ऋणी हूँ जिन्होंने बड़े परिश्रमसे इस पुस्तकको सर्वाङ्गसुन्दर रूप देकर सुविज्ञ पाठकोंतक पहुँचाया है । मैं इस पुस्तकके प्रकाशक श्री एकनाथ संशोधन मन्दिर औरङ्गाबादका मनःपूर्वक आभार प्रदर्शित करता हूँ जिनकी कृपासे ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है ।

अन्तमें भगवानसे यह प्रार्थना है कि जिस ज्योतिने मेरे हृदयको आलोकित किया है वह सारे विश्वको आलोकित करे ।

ओ३म् असतो मा सद्गमय

तभसो मा ज्योतिर्गमय

मृत्योर्मा अमृतं गमय

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

औरंगाबाद }
(दक्षिण)

—जगमोहनलाल चतुर्वेदी

अनुक्रमणिका

- १ प्रस्तावना : डॉ. रा. द. रानडे
 २ आशीर्वाद : डॉ. बलदेवप्रसाद मिश्र
 ३ आशीर्वाद : श्री. शं. वा. दांडेकर
 ४ निवेदन : श्री. जगमोहनलाल चतुर्वेदी

१ तुलसीदास और एकनाथके जीवनकी झांकी	...	...	१-१८
तत्कालीन राजकीय व सामाजिक स्थिति...	...	...	१
तुलसी-नाथका जन्म	...	...	४
बाल्यावस्था व शिक्षा-दीक्षा	...	...	५
ग्रन्थरचना	...	...	७
सब ग्रन्थोंका सार	...	...	८
संत व असंत वंदना	...	...	९
चमत्कार	...	...	१०
धर्म व उपासना	...	...	११
२ एकनाथ और तुलसीदासके काव्यकी झलक	...	...	२१-७४
उत्कृष्ट काव्य	...	...	२१
वात्सल्य	...	...	२३
स्वरूप-सौन्दर्य	...	...	२४
वियोग-शृंगार	...	...	२९
ईर्ष्या	...	...	३२
स्त्रीहठ	...	...	३४
कामलोलुपता	...	...	३५
कारुण्य	...	...	३७
पतिप्रेम	...	...	४१
शोक व कहणा	...	...	४४
शौर्य व बीभत्स	...	...	४८

सीता-संताप-शमन	...	...	...	...	...	५६
पतिविषयक संशय-रत्नमाला	...	...	...	...	...	५८
भारूड	...	...	...	...	...	६१
ढोंगकी निन्दा	...	...	...	...	...	६८
३ अध्यात्म-दर्शन	...	...	...	...	७७-१३०	
ईश्वर-निरूपण	...	...	...	...	...	७७
सगुण व निर्गुण	...	...	...	...	...	८५
ईश्वरप्राप्तिके साधन	...	...	...	...	...	८८
संसारकी असारता	...	...	...	...	...	९७
संत-महिमा	...	...	...	...	...	१०३
नाम-महिमा	...	...	...	...	...	११०
गुरु-महिमा	...	...	...	...	...	११७
भक्त-महिमा	...	...	...	...	...	१२३
मनुष्य-देहकी महिमा	...	...	...	...	...	१२७
भक्ति और मुक्ति	...	...	...	...	...	१२८
अनन्य भक्ति	...	...	...	...	...	१३०



वर्णनामर्थसंधानां रसानां छन्दसामपि ।
मङ्गलानां च कर्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ ॥ १ ॥

/

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमोश्वरम् ॥ २ ॥

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम् ।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते ॥ ३ ॥

सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ ।
वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ ॥ ४ ॥

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम् ।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ॥ ५ ॥

यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुराः ।
यत्सत्त्वादमृषेव भाति सकलं रज्जौ यथाहेभ्रमः ॥
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षवितां ।
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ॥ ६ ॥

—(तुलसी रामचरितमानस)

तुलसी-वंदना

श्रीमत्तुलसीदास स्वगुरु-भ्राता पद वन्दे ।

शेष सनातन बिपुल ज्ञान जिन पाइ अनन्दे ॥

रामचरित जिन कीन्ह तापत्रय कलिमलहारी ।

करि पोषी पर सही आदरेउ आप पुरारी ॥

राखी जिनकी टेक मदनमोहन धनुधारी ।

बालमीकि अवतार कहत जेहि सन्त प्रचारी ॥

नन्ददासके हृदय-नयनको खोलेउ सोई ।

उज्ज्वल रस टपकाय दियो जानत सब कोई ॥

(—नन्ददास)

धन्य भाग मम सन्तसिरोमनि चरनकमल तकि आयउँ ।

बदन प्रसाद सदन दृगभरि लखि सुखसन्दोह समायउँ ॥

दयादृष्टि ते मम दिसि हेरेउ तत्त्व-स्वरूप लखायो ।

कर्म उपासन ज्ञानजनित भ्रम-संसय भूल नसायो ॥

हरिलीला गायों तेहि सुनि तनु पुलकित मानस धीर ।

सुधा समान बचन कहि पोषेउ सुमिरत सिय रघुबीर ॥

श्री तुलसी सुचि सन्त-समागम अद्भुत अमल अनूप ।

सूरदास जीवन-फल पायो दरसन जुगल स्वरूप ॥

--(सूरदास)

यह खानि क्षतुष्फलकी सुखदानि अनूपम आनि हिये हुलसी ।

पुनि सन्तनके मनभूंगनको अति मंजुल माल लसी तुलसी ॥

अस मानुषके तरिबे कहें 'तोष' भई भव-सागरके पुल-सी ।

सब कामन-दायक कामदुहा सम रामकथा बरनी तुलसी ॥

—(कविवर तोष)

नाथ-वंदना

‘ ओंवी ’

नमिला शमिलास्यप्रब शांतिजलधि एकनाथ तो भावें ।
शोभावें ज्याचें यश विश्वीं ज्या देव वंद लोभावें ॥

-- (मोरोपंत)

‘ पद ’

नमूं एकनाथपंत संत साधु भला रे ॥ ६४० ॥
प्रतिष्ठान अधिष्ठान । दयाभूत अनुष्ठान ।
उतरती इतर पितरं पितृश्राद्ध पर्वणिंला रे ॥ १ ॥
आवडिनें कावडिनें । सांवडिल्या पत्रावळि ।
गंधचंदनासि घांसि नंदनंदन राबविला रे ॥ २ ॥
दत्तात्रय धरुनि दार । रक्षि होऊनि चोपदार ।
चमत्कार हाचि फार । दासोपंत चोजविला रे ॥ ३ ॥

—(अनाम कवि)

‘ पद ’

सज्जनमन सुमेरु गुणनिधि एकनाथ ।
परम पुरुष परम भागवत अवतरे ॥ ६४ ॥
नगरमनपट्टन तीरथमन गोदा— ।
पुलिनपनघनतटनिकट निवास करे ॥ १ ॥
घन बिद्रावन धन तरुवर कल्पवृच्छ ।
धन यन चरण न सोजी अजि अरति धरे ॥ २ ॥
होत पुरानश्रवण कीर्तन सुखविचार ।
सुख उपजत मुखतान अमृत वचन झरे ॥ ३ ॥

—(अमृतराय)

‘ ओंवी ’

जडमूढ जें कां अज्ञान । त्यांसी तारावयालागीं पूर्ण ।
थो एकनाथ नामाभिधान । प्रगट जाण झालेंसे ॥

—(ठाकुरदासबाबा)

‘तुलसी-नाथ वंदना’

—(१)—

शंकरकी सेवा सों प्रसाद मिलो मोकोंजो,
वाको बखानवे को रसना सकुचाई है ।
प्रेमबेल बोयी हियेमहं जो ‘रघुनाथ’,
सोंच कै वाको ‘सेवादास’ पनपाई है ।
कालके प्रभाव सो ‘ठिठुर सों गयी हुती’,
‘रामचन्द्र’ वाको नवचेतना दिलाई है ।
अब तो ‘जगमोहन’ कष्टन को अन्त भयो
फूल औ’ फलन सों बेल सरसाई है ।

—(२)—

भाषाको बल नाहि बुद्धिको गुमान नाहि
कीन्हों ढिठाई गुन सन्तनको गायो है ॥ १ ॥
जानिकै अजान-टेक, तुलसी दीन्हों भरोस
वे ही इह ग्रन्थको मोसों लिखवायो है ॥ २ ॥
बैकें बरदान जिन ‘गावबा’ को दीन्हों यश
वेही ‘जगमोहन’ को मारग बतायो है ॥ ३ ॥
तुलसी-नाथ चरणोंमहँ मस्तक नमाऊँ
जिनकी कृपासों यह ग्रन्थ लिख पायो है ॥ ४ ॥

तुलसीदास और एकनाथ

के

जीवन की झाँकी

तत्कालीन राजकीय व सामाजिक स्थिति

जब कि भारतका शौर्य मरणासन्न था और जब उसमें इतनी शक्ति न थी कि वह अपने पराक्रमसे अपना जीवन-निर्वाह करता, ईश्वर-नियमानुसार भारतमें दो महान् आत्माएँ अवतरित हुईं, जिन्होंने भारतमें एक नव-जीवन संचार किया, निराशामें डूबते हुए समाजको आशारूपी नौका प्रदान की, निराकार और अज्ञेय ईश्वरके स्थानपर साकार और लोकरंजक ईश्वरका रूप प्रस्तुत किया, जो उनके कष्टोंको दूर करनेके लिये समर्थ था । दन हो गतान् आत्माओंमेंसे एक हैं गोस्वामी तुलसीदास और दूसरे हैं एकनाथ महाराज ।

मध्यकालीन भारतमें मुगलोंकी सत्ता अच्छी तरह स्थापित हो चुकी थी । उत्तरी भारतके राजपूत राजाओंने मुगल बादशाहोंको अपना सम्राट स्वीकार कर लिया और उनके साथ तादात्म्य हो गये । इनका रक्त और शौर्य जो आपसी वैमनस्यमें प्रदर्शित होता था अब इस विदेशी राज्यकी जड़ोंको सींचने लगा । जिन कनक, कान्ता और संकीर्णताके प्रयासमें इन राजाओंने अपनी जड़ोंको खोखला किया उन्हीं कांचन और कामिनीको अपने रक्षणार्थ स्वतः अपने स्वामियोंके चरणोंमें अर्पण किया । उनका उन्नत मस्तक नत हो गया । अब उनमें यह सामर्थ्य न थी कि चारण उनका यश-गान करने । भारत परतंत्र हुआ । इस शारीरिक परतंत्रताने जनताकी मानसिक स्वतंत्रताको अधोमुखी बनाया । जनताके सामाजिक और धार्मिक बन्धन ढीले हो गये । तुलसीदासने उस समयकी सामाजिक स्थितिका यों वर्णन किया है :—

“वर्णाश्रम-धर्म नष्ट होने लगा। संसारसे वेदोंकी मर्यादा उठ गई। प्रजा पाखण्ड और पापमें लीन होकर पतित हो गई और अपने-अपने रंगमें रंग गई। शूद्र द्विजोंके बराबर अपनेको समझने लगे और यह कहकर बलपूर्वक अपना सम्मान कराने लगे कि ब्रह्मको जाननेवाला ब्राह्मण होता है, न कि जन्मसे। कलियुगमें पापाचरणसे धर्म भ्रष्ट होने लगा और सद्ग्रन्थ लुप्त हो गए। दम्भियोंने अपनी रुचिके अनुरूप बहुत-से ग्रन्थ प्रचलित किए।”

आश्रम बरन धरम विरहित जग लोक वेद मरजाद गई है ।

प्रजा पतित पाखण्ड पापरत अपने-अपने रंग रई है ॥

वार्दाह सूर द्विजन सन, हम तुमते कछु घाटि ।

जानहि ब्रह्म सो विप्रवर, आँख देखावहि डाटि ॥

कलिमल ग्रसेउ धर्म सब, गुप्त भए सद्ग्रन्थ ।

दम्भिन निज मति कल्पिकर, प्रकट कीन्ह बहु पन्थ ॥

उधर उत्तरी भारतकी जो अवस्था थी वही हालत यादवकालीन स्वराज्यके अस्त होनेके बाद महाराष्ट्रकी हुई। महाराष्ट्रपर मुसलमानी राजसत्ता स्थापित होनेके पश्चात् यहाँ भी सामाजिक और धार्मिक अवनतिके लक्षण दिखाई देने लगे। परकीय और परधर्मीय राजसत्ताके कारण हिन्दू संस्कृतिको भारी धक्का लगा। क्षत्रियोंने अपना युद्धधर्म छोड़कर वैश्यधर्म स्वीकार किया। इनमेंसे जो विशेष महत्त्वाकांक्षी लोग थे उन्होंने सरकारी नौकरीको अपनी जीविका बनाया। पहले ब्राह्मण जो क्षत्रियोंपर आश्रित थे अब निरालम्ब हो गये। वैश्यों और शूद्रोंके व्यापार मन्द पड़ गये। सगी माँके मरनेके बाद सौतेली माँके अधिकारमें जो हालत बालकोंकी होती है वही हालत चारों वर्णोंके लोगोंकी हो गई। अपना पौरुष दिखानेकी कोई जगह शेष न थी। इसका परिणाम यह हुआ कि जनताकी चित्तवृत्ति संकुचित व स्वार्थी बन गई। उदर-पोषणही एकमात्र धर्म बन गया। ब्राह्मण निस्तेज व कर्मभ्रष्ट बन गए। ढोंगी संन्यासी, जोगी-जंगम और

फकीर उपदेश करने लगे । एकनाथने उस समयकी सामाजिक स्थितिका यों वर्णन किया है :—

“इस कलियुगमें द्विजोंने अपने-अपने वर्णाश्रम-धर्मको छोड़ दिया । वेदोंको जनताका आधार न मिलनेके कारण वे पृथ्वीमें लुप्त हो गए । अब मनुष्योंकी ऐसी भावना बन गई है कि वे ब्राह्मणका तीर्थ लेनेको बहुत बुरा समझते हैं; परन्तु बड़े प्रेमसे भंग पीते हैं । अपने हाथसे मोरीकी कीच निकालनेका कष्ट तो सहन करते हैं; परन्तु मूर्तिकी पूजा व सेवासे जी चुराते हैं ।

वे लोग जो संसारको ज्ञानका उपदेश देते हैं और कहते हैं कि हम साधु हैं; परन्तु जिनके हृदयमें दया और धर्म नहीं है उन्हें केवल ढोंगी समझना चाहिए ।”

या कलियुगाभीतरों । कर्म सांडिलें द्विजवरी ।
लोपले वेद निर्धारीं । गुप्त जाहले क्षितीसी ॥
ब्राह्मणाचें तीर्थ घेतां त्रास मोठा । प्रेमें पितो घोटा घटघटां ॥
हातें मोच्या उपसी कष्ट करी नाना । देवाच्या पूजना कंटाळतो ॥
जगालागीं ज्ञान सांगती, म्हणती आम्ही साधू ।
पोटीं दया धर्म नाहीं, ते जाणावे भोंदू ॥

तुलसीदासने अपने ग्रन्थमें लिखा है कि जब जब धर्मकी हानि होती है और अधर्मी राक्षसोंकी वृद्धि होती है—जो अपनी अनीतिसे ब्राह्मण, गौ और पृथ्वीको कष्ट देने लगते हैं—तब तब भगवान विविध शरीर धारण करके सज्जनोंके दुःखोंको दूर करते हैं ।

जब जब होइ धर्मकी हानी । बाढ़ति असुर अधम अभिमानी ॥
करहि अनीति जाइ नहि बरनी । सीढ़िहि विप्र-धेनु-सुर-धरनी ॥
तब तब प्रभु धर विविध शरीरा । हरहि दयानिधि सज्जन-पीरा ॥

श्री एकनाथने इसी भावका इस प्रकार वर्णन किया है :—

“संतलोग धर्मकी रक्षाके लिए अवतार लेते हैं और अपने आचरणसे संसारको सन्मार्गपर लगाते हैं ।”

संतांच्या विभूती । धर्मालागीं अवतरती ॥
 धर्मरक्षणा कारण । साधु होताती अवतीर्ण ॥
 जगा लावावें सत्पथीं । हेचि साधूंची पै कृती ॥

तुलसी और नाथ दोनों ही परम भक्त, उपदेशक, प्रचारक और सुधारक थे । इन दोनों ही के जीवन-वृत्तमें इतनी समानता पाई जाती है कि हम इस निश्चयपर पहुँचते हैं कि तुलसी-एकनाथ एक आत्माके दो शरीर थे । तुलसी एकनाथसे भिन्न नहीं और एकनाथ तुलसीसे भिन्न नहीं ।

तुलसी-नाथका जन्म

तुलसीका जन्म यमुनाके किनारे राजापुर ग्राममें संवत् १५५४ में श्रावण शुक्ल सप्तमीको हुआ । इनके पिताका नाम आत्माराम दुबे और माताका नाम तुलसी था । इनके पिता राजापुरके राजगुरु थे । एकनाथका जन्म गोदावरीके तीरपर पैठणमें ई. स. १५३२ में हुआ । एकनाथके पिताका नाम सूर्यनारायण था । इनका सम्बन्ध हरिभक्त भानुदासके कुलसे था । ये दोनों महापुरुष अशुभ मूल नक्षत्रमें उत्पन्न हुए और एक वर्षके भीतरही दोनों माताके सुखसे वंचित हो गए । तुलसीदास और एकनाथ दोनोंने अपने जन्म और कुलके सम्बन्धमें अपने कुछ ग्रन्थोंमें परिचय दिया है ।

तुलसीदासने अपने जन्मके सम्बन्धमें लिखा है :—

“जन्मते ही माता-पिताने मुझे छोड़ दिया । ब्रह्माने भी भाग्यमें कुछ अच्छा न लिखा था । मेरे माता-पिताने मुझे एक तुच्छ कीड़ेकी भाँति त्याग दिया । मैं भिक्षावृत्ति करनेवाले ब्राह्मणके कुलमें उत्पन्न हुआ । आनन्दोत्सवके समय ही मेरी ग्रह-दशा जानकर बेचारे माता-पिताको अत्यन्त दुःख हुआ ।”

“मातपिता जग जाय तज्यो, विधिहू न लिखी कछु भाल भलाई।”

“तनु तज्यों कुटिल कीट ज्यों, तज्यो मातु पिता हू । ”

“जायो कुल मंगन बधावनो सुनि, भयो परिताप पाप जननी जनकको ।”

एकनाथने अपने संबन्धमें यों लिखा है :—

“ मेरा जन्म मूल नक्षत्रमें हुआ जिससे मेरी माता और पिताको अत्यन्त दुःख हुआ । मूल नक्षत्रमें उत्पन्न होनेके कारण मैं अपनी माता और पिताके विनाशका कारण बना । मूल नक्षत्रकी शान्ति की गई; परन्तु इसका परिणाम यही हुआ कि मेरी माता और पिता दोनों चल बसे ! ”

मुळीच्या मुळीं एका जन्मला । माय-बापें थोर धाक घेतला ॥ १ ॥

कैसें मूळ नक्षत्र आलें कपाळा । स्वयें लागलों दोहींच्या निर्मूळा ॥ २ ॥

शान्ति करितां अवध्यांची शान्ति ।

मुळीं लागोनियां लावली ख्याति ॥ ३ ॥

एका जनार्दनीं मुळींच्या गोठी । मायसकट सकळा बापचि घोंटी ॥ ४ ॥

मूल नक्षत्रमें उत्पन्न होनेवाले बालक अशुभ समझे जाते हैं । माँ-बापकी दृष्टिसे तो यह बात तुलसी और एकनाथ दोनोंके लिए सत्यही निकली; परन्तु संसारके लिए ये दोनों बालक शुभदायक और कल्याणप्रद हुए ।

बाल्यावस्था व शिक्षा-दीक्षा

तुलसीकी माता हुलसीकी मृत्युके बाद हुलसीकी दासी चुनियाँने पाँच वर्षतक तुलसीका लालन-पालन किया । पर जब चुनियाँ साँपके काटनेसे मर गई तो कहते हैं गौरामाईने ब्राह्मणीका रूप धर रामबोला (तुलसी) का पोषण दो वर्षतक किया । इसके पश्चात् नरहर्यानन्दने रामबोलाकी रक्षाका भार ग्रहण किया । उन्होंने रामबोलाको तुलसीका नाम दिया और तुलसीके सब संस्कार किए और शूकर क्षेत्रमें रामकी कथा सुनाई । संवत् १५६१ में नरहरि तुलसीदासको लेकर काशी आए । यहाँ शेष-सनातनसे मिले और उन्होंने इन्हें अपना शिष्य बना लिया । तुलसी शेष-सनातनके संरक्षणमें पन्द्रह वर्ष रहे और इस कालमें उन्होंने इतिहास, पुराण और काव्यकला सभी कुछ पढ़ा और सीख लिया । जब शेष-सनातनकी मृत्यु हुई तो तुलसीदास राजापुर आकर रामकी कथा कहकर अपना जीवन व्यतीत करने लगे । संवत् १५८३ में तुलसीका वैवाहिक जीवन

आरम्भ हुआ। पाँच वर्षतक ये इस प्रपंचमें फँसे रहे। स्त्रीके चुपचाप पितृ-गृह चले जानेपर तुलसी जब उसके पीछे ससुराल जाते हैं तो स्त्रीकी भर्त्सना मिलती है। वह कहती है :—“हे स्वामी ! आपको शर्म नहीं आती कि इस घोर अन्धकार और भयावनी रात्रिमें यहाँ चले आए ! धिक्कार है ऐसे प्रेमको ! हाड़-मांसके इस शरीरसे तुम्हें इतना प्रेम है ! यदि तुम्हें श्रीराम-जीसे इतना प्रेम होता तो संसारके बंधनोंसे मुक्त हो जाते।”

लाज न आवत आपको, दीरे आयहु नाथ ।

धिक् धिक् ऐसे प्रेमको कहा कहहुँ हौं नाथ ॥

अस्थिचर्ममय देह मम, तामें ऐसी प्रीति ।

होती जो श्रीराम महँ, होति न तो भव-भीति ॥

इस भर्त्सनासे तुलसी वैराग्य ले लेते हैं। उनकी स्त्रीकी मृत्यु संवत् १५८९ में हो जाती है। इसके बाद तुलसीने लगभग पन्द्रह वर्षतक तीर्थ-यात्रा और पर्यटन किया।

एकनाथकी मातापिताकी मृत्युके बाद इनका लालन-पालन इनके वृद्ध दादा और दादीने किया। इनके दादाका नाम चक्रपाणि था। चक्रपाणिने छठें वर्ष एकनाथका उपनयन संस्कार किया। एकनाथने थोड़े ही दिनोंमें पुरुषसूक्त, रुद्र, पवमान कण्ठ कर लिया। बारह वर्षकी आयुमें भारत-भागवतकी भक्त-कथाएँ पढ़ डालीं। तेरहवें वर्ष नाथ, जनार्दनस्वामीके दर्शनके लिए देवगढ़ पहुँचे और वहाँ जनार्दनस्वामीकी सेवामें रहकर योग-साधन करने लगे। इसके पश्चात् गुरु-शिष्य दोनों यात्राके लिए निकले। ये पहले चन्द्रावती नगरीमें पहुँचे, जहाँसे पञ्चवटी और त्र्यंबकेश्वरकी यात्रा संपूर्ण की। जनार्दनस्वामी देवगढ़ वापिस आए और नाथको उत्तर व दक्षिणके तीर्थ करनेके लिए आदेश दिया। नाथ जब पैठण पहुँचे तो गुरुका पत्र मिला कि वृद्ध दादा-दादीकी सेवा करो। पच्चीस वर्षकी आयुमें नाथ पैठण आए और वहाँ रहकर भजन-कीर्तन करने लगे। जनार्दनस्वामीने इन्हें पैठण आकर दर्शन दिए और इनके दादाकी विनती स्वीकार कर नाथको विवाह करनेकी अनुमति दी। इनका विवाह गिरिजासे

हुआ । दादा-दादी अपने नाती व नत-बहूके जीवन-सुखसे संतुष्ट हुए और फिर उन्होंने स्वर्गवास किया ।

ग्रन्थरचना

विद्याध्ययन, तीर्थयात्रा और पर्यटन-द्वारा ज्ञान-संपादन करनेके बाद तुलसी व नाथने गुरुकी आज्ञानुसार ग्रन्थरचना प्रारम्भ की । तुलसीदासने रामायणकी रचनाके संबन्धमें लिखा है कि यद्यपि मेरे गुरुने बार-बार मुझे श्रीरामकी कथा सुनाई परन्तु उस समय मेरो आयु कम थी; इसलिए थोड़ी ही समझमें आई । अब इसी कथाको मैं (हिन्दी) भाषामें लिखूंगा, जिससे मुझे ज्ञान प्राप्त होवे ।

यदपि कही गुरु बारहिं बारा, समुझ परी कछु मति अनुसार ॥
भाषाबद्ध करब मैं सोई, मोरे मन-प्रबोध जेहि होई ॥

गोदावरीके उत्तर-तीरपर चन्द्रावती नामकी नगरीमें चन्द्रभट्ट नामके एक सत्त्वशील ब्राह्मण रहते थे । रातमें चतुःश्लोकी भागवतपर जनार्दन-स्वामीने चन्द्रभट्टके मुखसे पूराण सुना । जनार्दनस्वामीको यह अत्यन्त पसंद आया और नाथको आज्ञा दी कि देशी भाषामें इस ग्रन्थपर टीका लिखो ।

“ देशी भाषेत या ग्रन्थावर तू टीका लिही ।”

तुलसीने हिन्दी कविताकी पीयूषधारा बहाई और एकनाथने मगठी काव्यकी अमृतमयी सरिता बहाई । एकका प्रभाव गंगा और यमुनाके किनारेसे हुआ और दूसरीका गोदा-गंगाके तीरसे ।

कवि-कुल-शिरोमणि तुलसीदासने चौपाई छंदको अपनाया तो कवि-कुल-मुकुट-मणि एकनाथने ओवी छन्दमें रचना की ।

तुलसीदासके मुख्य ग्रन्थ बारह हैं और नाथके मुख्य ग्रन्थ सात हैं । तुलसीदासके ग्रन्थोंमें रामचरित-मानस, विनय-पत्रिका, राम-गीतावली, कृष्ण-गीतावली, कवितावली, दोहावली मुख्य हैं और बाकी ग्रन्थ छोटे-छोटे

हैं। इन छोटे-छोटे ग्रन्थोंमें रामलला नहछू, पार्वती-मंगल, वैराग्य-संदीपनी, जानकी-मंगल, हनुमान-चालीसा और रामाज्ञा उल्लेखनीय हैं।

नाथके सात मुख्य ग्रन्थोंमेंसे भागवत, भावार्थरामायण, रुक्मिणी-स्वयंवर मुख्य हैं। शेष ग्रन्थ छोटे-छोटे हैं। जैसे :—चतुःश्लोकी भागवत, हस्तामलक, आनन्दलहरी, स्वात्मसुख।

तुलसीदासके इन ग्रन्थोंमें रामचरित-मानस आदर्श-दर्शक किंवा चरित्र-विषयक ग्रन्थ है और विनय-पत्रिका भक्ति-अध्यात्मका उत्कृष्ट ग्रन्थ है। रामचरित-मानस भारतप्रसिद्ध ग्रन्थ है। गरीबोंकी झोंपड़ीसे अमीरोंके महलोंतक इसका सम्मान है। यह प्रत्येक नर-नारी, बाल-वृद्ध ग्रामीण-नागरिकके कण्ठका हार बन गई है। हिन्दीमें रामचरित एक अप्रतिम ग्रन्थ है।

हिन्दीमें जो स्थान आदरकी दृष्टिसे रामचरित-मानसका है वही स्थान मराठीमें नाथ-भागवतका है। परन्तु कथानक और आदर्श-दर्शक ग्रन्थकी हैसियतसे रामचरित-मानस व भावार्थ-रामायण समकक्ष हैं। तुलसीदासकी रामायण संवत् १६३१ में अयोध्यामें प्रसिद्ध हुई। उसी वर्ष नाथ-भागवत काशीमें निर्मित हुई।

सब ग्रन्थोंका सार

तुलसीने रामायणके आदिमें यह बतला दिया है कि 'इसमें वेद, शास्त्र, पुराणों और कुछ अन्य ग्रन्थोंका सार जनसमुदायकी भाषामें दिया गया है।'

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यत्, रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तस्मुखाय तुलसी रघुनाथ-गाथा, भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति ॥

इसी भावको एकनाथने यों प्रकट किया है :—

“ भागवत सब शास्त्रोंका सार है। यह वेदोंमें निरूपित परम भक्ति और पुराणोंका मायका है। ”

जें सकल शास्त्रांचें सार । जें सकल वेदांचें गहिंवर ।

जें सकल पुराणांचें माहेर । ग्रंथासि आलें ॥

उपरोक्त चार पंक्तियोंमें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ग्रन्थमें वेद, शास्त्र और पुराणोंका सार है। तुलसीदासने अन्य ग्रन्थों व गुरुवाक्योंके सारको बतलानेके लिये “क्वचिदन्यतोऽपि” लिखा है। परन्तु नाथ-महाराजने इसका स्पष्टीकरण यों किया है:—

“जो सब ग्रन्थोंका सार है, जो ज्ञानका भी ज्ञान है, जो गुरु-शिष्यका गुह्य उपदेश है, उसे जनार्दनस्वामीने मुझे एकान्तमें दिया जिसका अनुभव मैं निरन्तर करता हूँ।”

जें सकळ ग्रन्थांचें ग्रन्थार्थ । जें सकळ दृश्यांचें दृश्यत्व ।
तो गुरु-शिष्यांचा गुह्यार्थ । चांवळलों गुज ॥
ते गुज एकाएकपणें । मज दीधलें जनार्दनें ॥
ते निरन्तर अनुभवणें । अनुभविये घेतुका ॥

संत व असंत वंदना

ग्रन्थमें इष्टदेव व सज्जनोंकी वंदना करनेके पश्चात् असन्तों किंवा निन्दकोंकी भी वंदना की गई है। भावार्थ-रामायणमें नाथ-महाराज कहते हैं कि ‘जो ग्रन्थकी निन्दा करता है अथवा वंदना करता है वे दोनोंही मेरे लिये ब्रह्मके समान हैं। निन्दक सगी माँ है जो निन्दा कम्मे मेरे ऊपर कृपा करती है; अतएव प्रशंसकसे अधिक कृपालु होती है।’

ग्रन्थ निन्दिती अथवा वन्दिती । ते दोघे आम्हां ब्रह्ममूर्ती ॥
हे श्रीजनार्दनाची युक्ति । उपदेश एकान्ती निजगुह्यार्थ ॥
कथा निन्दिती वन्दिती जनी । ते माउली माझे दोनी ॥
निन्दक ते सखी जननी । मजलागूनी कृपालू ॥

भागवतमें भी नाथने कहा है कि ‘इस ग्रन्थका जो कोई आदर करता है, उपेक्षा करता है अथवा जो केवल निन्दा करता है वह मेरे लिये ब्रह्म एवं सद्गुरुके समान पूज्य है।’

या ग्रन्था आदर करती । अथवा जे कां उपेक्षिती ।
केवळ जे कोणी निन्दती । तेही आम्हां ब्रह्ममूर्ति सद्गुरुरूपें ॥

तुलसीदासने भी रामायणमें सन्त और असन्त दोनोंकी वंदना की है। तुलसीदासने दुष्टोंको सक्रोध शेषनागकी उपमा दी है जो सहस्रों मुखोंसे दूसरेके दोषोंका वर्णन करते हैं और फिर राजा पृथुकी उपमा दी है कि जो सहस्रों कानोंसे पगये पापोंका श्रवण करते हैं। ऐसे दुष्ट मनुष्योंको भी—जो दूसरोंका गुण न सुन सकते हैं और न वर्णन कर सकते हैं—तुलसीदास नमस्कार करते हैं।

तुलसीदास कहते हैं कि 'मैं सन्त और असन्त दोनोंको नमस्कार करता हूँ। क्योंकि मेरे लिये दोनों समान हैं। कारण कि दोनों दुःखदाई हैं। सन्तोंका विद्योह हृदय विदीर्ण करता है और असन्त मिलनेपर दारुण दुःख देते हैं। अन्तर इतनाही है।

बंदों खल जस शेष सरोषा । सहस्र बदन बरणाहिं परदोषा ।
पुनि प्रणवों पृथुराज-समाना । पर अघ सुनै सहस्र दश काना ।
बंदों संत-असंतन-चरणा । दुखप्रद उभय बीच कछु बरणा ।
बिछुरत एक प्राण हर लेहीं । मिलत एक दारुण दुख देहीं ॥

चमत्कार

तुलसी और नाथ दोनोंके संबन्धमें कुछ अलौकिक घटनाएँ प्रसिद्ध हैं। कहते हैं कि तुलसीदास जन्म लेते ही "राम राम" बोलने लगे। इसीलिए इनका नाम "रामबोला" पड़ा। जन्मके समय इनके मुँहमें बत्तीसों दाँत मौजूद थे। ये रोये नहीं। चुनियाँके मरनेके बाद गौरामाईने इनका लालन-पालन किया। शिवजीने इन्हें काशीमें दर्शन दिए। इन्हें प्रेतका दर्शन हुआ जिसके द्वारा इनकी हनुमानसे भेंट हुई। चित्रकूटमें राम-लक्ष्मणने दर्शन दिए। जब ये मथुरा गए और कृष्णके दर्शन करने लगे तो इनके यह कहनेपर कि 'हे नाथ! आजका आपका स्वरूप बड़ा सुन्दर है; परन्तु तुलसीदास अपना मस्तक धनुषबाण-धारी रामको ही भुकाएगा।'

कहा कहों छुबि आजकी भले बने हो नाथ ।

तुलसी मस्तक तब नवै धनुषबाण लेहु हाथ ॥

कृष्णने तुलसीको रामरूपके दर्शन दिए। तुलसीके संबन्धमें यह भी प्रसिद्ध है कि इन्होंने एक लड़कीको लड़का बना दिया और एक विधवा स्त्रीके पतिको फिर जीवित कर दिया। पत्थरके नन्दीको हत्यारेके हाथसे प्रसाद-पान कराया।

नाथके संबन्धमें भी बहुतसे चमत्कार प्रचलित हैं। नाथको दत्तात्रेय और कृष्णने दर्शन दिए। श्रीखंड्याके रूपमें श्रीकृष्ण इनके घरका पानी भरते थे और पूजाके लिए चन्दन घिसते थे।

श्रीएकनाथसदनीं माधवजी सर्व काम हैं करितो।

स्वकरें चन्दन घांसी, गंगेचें पाणि कावडीं भरितो॥

तुलसीके समान नाथ-महाराजके संबन्धमें भी यह कथा प्रचलित है कि इन्होंने पत्थरके नन्दीको कड़बी खिलाई। देवगढ़की निकटकी पहाड़ियोंमें नाथ जब समाधि लगाते थे तो नाग अपना फन फैलाकर धूपसे अुनकी रक्षा करता था। निपटमूर्ख गाववाको नाथमहाराजका यह बरदान व आशीर्वाद कि इनकी असमाप्त रामायणकी वह पूर्ति करेगा, एक चमत्कार ही है। श्रीएकनाथका निर्याण भी कुछ कम चमत्कारिक नहीं। जैसे कोई तीर्थयात्राके लिए तैयार होता व जाता है वैसेही नाथने कीर्तन व भजन करते-करते गोदावरीमें प्रवेश किया और जनसमूहके देखते-देखते अन्तर्धान हो गए।

तुलसीने अपना आखिरी जीवन काशीमें गंगाके किनारे बिताया तो नाथने पैठण (दक्षिण काशी)में गोदावरीके तीरपर अपनी लीला दिखाई।

धर्म व उपासना

तुलसीदास वैष्णव धर्मके अनुयायी थे। उनके जीवनपर नरहरि व रामानन्दकी छाप थी। इन्होंने शैव और वैष्णवोंके संघर्षको—जो उस समय उग्र रूप धारण कर चुके थे—मिटानेका सफल प्रयत्न किया और वैष्णव धर्मको इतना व्यापक रूप दिया कि उसमें शैव, शाक्त और पुष्टि-मार्गी सरलतासे सम्मिलित हो गये।

तुलसीदासने श्रीरामके मुखसे यह कहलवाया है कि ' शिवद्रोही बनकर जो मेरा भक्त कहलाना चाहता है वह मुझे सपनेमें भी प्राप्त नहीं हो सकता । शंकरजीसे विमुख रहकर जो मनुष्य मेरी भक्ति चाहता है वह मूर्ख व नारकी है । शंकरका प्रिय हो और मेरा द्रोही अथवा शिवका द्रोही होकर मेरा दास बने ऐसा मनुष्य घोर नरकमें कल्पभर वास करेगा । '

सिवद्रोही मम भगत कहावा । सो नर सपनेहु मोहि न पावा ॥
 संकर बिमुख भगति चह मोरी । सो नारकी मूढ मति थोरी ॥
 संकर प्रिय मम, द्रोही, सिव द्रोही मम दास ।
 ते नर करहि कल्प भरी । घोर नरक महुं बास ॥

एकनाथमहाराज भी भागवत धर्मके अनुयायी थे । उनके जीवनपर जनार्दनस्वामी और ज्ञानदेवकी छाप थी । इन्होंने भी शैव और वैष्णवोंमें सामंजस्य पैदा किया । ये दत्तात्रेयके उपासक थे जो शिव व विष्णु दोनोंके अवतार माने जाते हैं । उनकी उपासनामें भेदबुद्धिके उत्पन्न होनेका अवकाश ही नहीं ।

तुलसीदास प्रेम-भक्तिके उपासक थे । भक्ति और ज्ञानके अन्तरको बतलाते हुए काक भुशुण्डिने इस प्रकार गरुडको उत्तर दिया कि ' ज्ञानी और भक्तमें कोई अन्तर नहीं; दोनोंही संसारके दुःखोंको दूर करते हैं । '

“ भगतिहि ग्यानहि नहीं कछु भेदा । उभय हरहि भव संभव खेदा । ”

“ परन्तु अन्तर केवल इतना ही है कि भक्ति स्त्री है और ज्ञान पुरुष है । यह नियम है कि स्त्री, स्त्रीके रूपको देखकर मोहित नहीं होती । माया और भक्ति दोनों स्त्रीवर्ग हैं; इसलिए माया भक्तको बाधा नहीं पहुँचा सकती । ”

ग्यान विराग जोग विग्याना । ए सब पुरुष सुनहु हरि जाना ॥
 मोहन नारि नारिके रूपा । पन्नगारि यह रीति अनूपा ॥
 माया भगति सुनहु प्रभु बोऊ । नारि वर्ग जानहि सब कोऊ ॥

ऐसा ही विचार एकनाथमहाराजने प्रकट किया है। वे कहते हैं कि 'हे प्रभु! मुझे भक्ति व प्रेमरहित ज्ञान नहीं चाहिए। ज्ञानका अभिमान करना व्यर्थ है! मुझे तो प्रेम-सुख दो। बिना प्रेमके मेरा चित्त समाधान नहीं पाता। बिना प्रेमके ज्ञान ऐसा नीरस प्रतीत होता है जिस प्रकार विधवा स्त्री शृङ्गार करनेपर श्रीहीन दिखाई देती है। प्रेम अति मधुर है, इसका सुख तो अनुभवहीसे ज्ञात होता है।"

भक्ति प्रेमाविण ज्ञान नको देवा । अभिमान नवा तयामार्जी ॥
 प्रेम-सुख देई प्रेम-सुख देई । प्रेमेविण नाहीं समाधान ॥
 रांडवेनें जेवीं श्रृंगार पै केला । प्रेमेविणा जाला ज्ञानी तैसा ॥
 एका-जनार्दनीं प्रेम अति गोड । अनुभवो सुखाड जाणतील ॥

तुलसी-मतानुसार 'भक्ति-मार्ग ज्ञानकी अपेक्षा सुलभ व सरल है। तुलसीदासने एक तरफ अद्वैतवादका प्रतिपादन किया है; परन्तु दूसरी ओर ईश्वर व जीव दोनोंको अलग माना है।' वे काक भुशुण्डिसे कहलवाते हैं कि 'हे गरुड! सेवक व सेव्य-भावके बिना संसारसे तरना कठिन है।'

सेवक-सेव्यभाव बिन, भव न तरिय उरगारि।

तुलसीदासने अपने ब्रह्म-निरूपणमें मायाका भी वर्णन किया है। वे कहते हैं कि 'जीव, ईश्वरका अंश व अविनाशी है। यह चेतन और शुद्ध है और सहज ही सुखी रहता है। यही जीव मायाके वशमें इस प्रकार बन्धनको प्राप्त हुआ है जिस प्रकार तोता और बन्दर। यद्यपि दोनों स्वतंत्र हैं। तोता नलिका-यन्त्रको अपना सहारा समझकर नहीं छोड़ता और बन्दर मुट्ठी बन्द रखनेके कारण बन्धनमें पड़ जाता है।

अविद्या अथवा माया-द्वारा जीव अपनेको ईश्वरसे भिन्न मानने लगा है। इस अविद्याको दूर कर दिया जाय तो जीव सच्चिदानन्द-रूपको प्राप्त हो जाता है।' जीव और ईश्वरमें भेद करते हुए तुलसी-दासने लिखा है कि 'जीव परतन्त्र है, ईश्वर स्वतन्त्र है। जीव अनेक हैं; परन्तु ईश्वर एक है।'

ईश्वर अंश जीव अविनासी । चेतन अमल सहज सुखरासी ।
 सो मायावश भयउ गुसाई । बँध्यो कीर मरकटकी नाई ॥
 “जड़-चेतन ग्रन्थि पड़ गई । जदपि मृथा छटत कि नई ।”
 परवश जीव, स्ववस भगवंता । जीव अनेक एक श्रीकंता ॥

तुलसीदास भक्तिद्वारा ईश्वरकी प्राप्ति मानते हैं जिसके लिए श्रवण, कीर्तन, ब्राह्मण-सेवा, संत-समागम, मन-कर्म-वचनसे निष्काम भक्तिहीका उन्होंने उपदेश दिया है । रामनामको उन्होंने बड़ा महत्त्व दिया है । वे कहते हैं :—

“रामनामका मणिदीप जिह्वा-रूपी देहरीके दरवाजेपर रखो तो अन्दर और बाहर ज्ञानका प्रकाश मिल सकेगा । रामका नाम ब्रह्म और रामसे भी बड़ा है । रामनाम श्रेष्ठ वरदानोंको देनेवाला है । इस रामनाम-रूपी मन्त्रको शिवजीने शतकोटि रामायणसे शोध कर निकाला है ।”

राम-नाम-मणि-दीप धरु, जीह-देहरी-द्वार ।
 तुलसी भीतर-बाहिरौ, जो चाहसि उजियार ॥
 ब्रह्म रामते नाम बड़, वरदायक वर दानि ।
 रामचरित शत कोटि महँ, लिय महेश जिय जानि ॥

तुलसीदास संसारको ईश्वरमयही देखते हैं । वे कहते हैं कि ‘मैं सब संसारको सीता और राममय समझकर दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ’ :—

“सीयाराममय सब जग जानी । करौं प्रणाम जोरि युग पानी ॥”

तुलसी रामके परम भक्त थे; परन्तु वैरागी ।

एकनाथ ज्ञान-भक्तिके उपासक थे । कीर्तन, भजन, हरिस्मरण-द्वारा ही ये ईश्वरको रिझाते थे । ये अपने कीर्तनमें इतने तल्लीन हो जाते थे कि सेवक-सेव्यका द्वैतभाव रहही न पाता था । नाथमहाराज भी निष्काम भक्तिके पुजारी थे और संसारको ईश्वरमय देखते थे ।

“जन तोचि जनार्दन, एका-जनार्दनी भजन ।”

नाथका तत्त्वबोधक अभंग भी इसी सिद्धान्तकी पुष्टि करता है। वे कहते हैं कि 'अपना हो चाहे पराया, माता हो या पिता सब ही जीव ईश्वरके रूपमें है और संसारमें जीवन एक चमत्कार है।'

“ स्वजन जनार्दन, विजन जनार्दन ।
जन ते जनार्दन, होऊनी ठेले ॥
जनक जनार्दन, जननी जनार्दन ।
जीव तो जनार्दन, जीवन कळा ॥”

श्रीनाथने राम और सीताकी एकता दिखाकर जीव व ईश्वरकी एकता प्रतिपादन की है। भावार्थ-रामायणमें राम स्वतः हनुमानजीसे कहते हैं :—

“ मैं सर्वव्यापी परमेश्वर हूँ और सीता भी सम्पूर्ण चिच्छक्ति है। सीतासे मैं अणुमात्र भी अलग नहीं हूँ। जिस प्रकार नटेश्वर स्वरूपमें आधा स्वरूप शिवजीका और आधा पार्वतीका होता है; परन्तु शरीर एकही होता है इसी प्रकार सीता और रामचन्द्र भिन्न होते हुए भी एकही है।”

“ माझे स्वरूप चैतन्य घन ।
सीता चिच्छक्ति सम्पूर्ण ॥
सीतेसी मज वेगळेंपण ।
अणुप्रमाण असेना ॥
अर्धनारी नटेश्वर ।
दो स्वरूपीं एक शरीर ।
तेवीं सीता श्रीरामचन्द्र ।
अभिन्नकार भिन्नत्वे ॥ ”

तुलसीदासने भी राम और सीताकी एकता बताकर प्रकृति एवं पुरुष अथवा ईश्वर व जीवकी एकता स्थापित की है :—

“ जो वाणी और उसके अर्थ तथा जल और जलकी लहरके सपान कहनेमें अलग अलग हैं, परन्तु वास्तवमें एक है उन सीतारामजीके चरणोंको
ए. तु...२

में वंदना करता हूँ, जिन्हें दीन-दुःखी बहुतही प्रिय हैं। श्रुतियोंका पालन करने-वाले राम, परमात्मा हैं और सीताजी उनकी माया हैं जो परमात्माके इशारे-पर सृजन, पालन और हरण करती हैं। श्रीरामचन्द्रजी मायाके पति हैं। जो परमात्मा अजन्मा, अद्वैत, नामरहित, अरूप व गुणरहित, है उसने भक्तोंके लिए मनुष्यरूपमें अवतार लिया है।”

गिरा अर्थ जलबोचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न ॥
 वग्दों सीता राम पद, जिनहि परम प्रिय खिन्न ॥
 श्रुति-सेतु पालक राम तुम, जगदीश माया जानकी
 जो सृजति जग पालति हरति,
 रुख पाय कृपानिधानकी ॥
 अज अद्वैत अनाम, अलख रूपगुणरहित जो ।
 माया पति सोइ राम, दास हेतु नर-तनु धरेउ ॥

नाथने भी रामनाम-स्मरणको उचित महत्त्व दिया है। वे कहते हैं कि ‘वाणीसे रामनाम लेते हुए यदि मन विषयकी ओर दोड़े तो इसे भजन नहीं वरन् विस्मरण समझना चाहिए। यदि नाम व रूपका मेल न हो तो यह वाणीका उद्भास है। यदि नाम और रूपके योगसे ध्यान किया जाय तो नामसे भगवान् प्रकट होते हैं।’

नाम वदतां हे वैखरी ।
 वित धात्रे विषयावरी ॥
 कैंसें होतां हे स्मरण ।
 स्मरणामार्जो विस्मरण ॥
 नामरूपा नाहों मेठ ।
 नुस्ता वाचेचा गोंधळ ॥
 एका-जनार्दनों नाम ।
 नामों प्रगटे आत्माराम ॥

साधु-संतों और गुहकी तुलसी व नाथ दोनोंने ही महिमा गाई है। नाथने कहा है ‘कि जिस ब्रह्मको बुद्धि, मन व इन्द्रियें पहचान नहीं सकतीं,

जो विवेकद्वारा बोधगम्य नहीं है, जहाँ सूर्यका प्रकाश नहीं पहुँच सकता है, जिसका निरूपण वेद नहीं कर सकते उस ब्रह्मका बोध गुरुकी कृपासे संभव है।'

जें काळासी नाकळे ।
जें देखो न सकती बुद्ध्यादि सकळें ।
जथें विवेकाचे मंद डोळे ।
गुरु आज्ञेवीण ॥
जें न प्रकाशे तरणीं ।
जें न बोलवें वेदवचनीं ॥
येवढीये वस्तुचा गुरु दानी ।
दयाळुस्वें ॥

तुलसीदासने इसी अभिप्रायको यों स्पष्ट किया है :—

“बिना गुरुके ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता और बिना ज्ञानके वैराग्य नहीं होता। वेद और पुराण गा-गाकर कहते हैं कि हरि-भक्ति-बिना सुख प्राप्त नहीं हो सकता। बिना संतोषके किसीको विश्राम नहीं मिलता। जैसे बिना जलके नाव नहीं चलती; चाहे करोड़ों जतन कर डालो।

बिनु गुरु होइ कि ज्ञान, ज्ञान कि होइ विरागु बिनु ।
गार्वाहं वेद पुराण, सुख कि लहहि हरि भक्ति बिनु ।
कोइ विश्राम कि पाव, तात सहज संतोष बिनु ।
चलै कि जल बिनु नाव, कोटि जतन पचि पचि मरिय ।

तुलसी व नाथकी गुरु व मन्तोंके प्रति श्रद्धा अप्रतिम है। एकनाथ सन्तोंके जूतोंको लेकर चलना अपने लिए भक्तिका भूषण समझते हैं। वे कहते हैं कि ‘संसार-सागरको पार करनेके लिए यह जहाजका काम देते हैं’ :—

सन्त जाती हरि-कीर्तना ।
त्यांचे वाहीन मोचे-वहाण ॥
भव-सिंधूचें तारुं ।
तेणें उतरुं पैल-पारु ॥

तुलसी रामभक्तके जूतोंके लिए अपने शरीरकी चमड़ीतक देनेके लिए उद्यत हो जाते हैं। वे कहते हैं कि ' जिसके मुँहसे धोखेमें भी रामनाम निकलता है उसके जूतोंके लिए मेरे शरीरका चमड़ा काम आए तो मैं अपना बड़ा भाग्य समझता हूँ । '

तुलसी जाके बदनते,
धोखेउ निकसत राम ॥
ताके पगकी पगतरी,
मेरे तनुको चाम ॥

' नाथ ' ने प्रपंच-परमार्थ दोनोंका समन्वय बड़ी सुन्दरतासे किया है। ये गीता-प्रतिपादित कर्म-ज्ञान-भक्तिके सामंजस्यको भली भाँति हृदयंगम कर चुके थे, जिसका आदर्श जनताके सामने उन्होंने अपने जीवन-वृत्तसे उपस्थित किया। इनकी क्षमा, उदारता, शांति, भक्ति-वत्सलताने इनके वैरियोंको भी अन्तमें इनका गुणग्राहक बना दिया। वणश्रम-धर्मके परिपोषक होते हुए भी नाथने बहुजन व सर्वोदय-समाजका नेतृत्व अपने हाथ लिया।



एकनाथ और तुलसीदास

के

का व्यंकी झलक

उत्कृष्ट काव्य

एकनाथकी गणना केवल साधुओंहीमें नहीं की जाती अपितु वे उच्च कोटिके कवि भी हैं। उनके लोकप्रिय ग्रन्थ उनकी काव्य-रचनाकी साक्षी दे रहे हैं। उनके ग्रन्थोंके कुछ स्थल तो ऐसे हैं कि रसिक जन उनमें तल्लीन होकर अवर्णनीय आनन्द अनुभव करते हैं। एकनाथमें काव्य-रचनाकी स्वाभाविक और तात्कालिक स्फूर्ति थी। इसीलिए उनकी कविता रसिकोंको विशेष प्रिय प्रतीत हुई। अध्यात्मसदृश गहन विषयोंपर भी एकनाथने चलते-चलते हज़ारों ओवी और अभंग रच डाले। ये कविताएँ उनकी विलक्षण कल्पनाशक्तिकी सूचक हैं। इनमेंसे बहुत-सी कविताएँ तो गोदावरीके बालुकामय तीरपर उपदेश करते-करते रची गई हैं। बहुत-से पद तो जब वे कीर्तनमें निमग्न थे उसी समय उनके मुखसे निकले हैं। नाथ-जैसी कवित्वशक्तिका स्वाभाविक ओज बहुत थोड़े कवियोंमें पाया जाता है। उनकी कविता सीधी-साधी और बोधगम्य है। इसमें प्रसाद गुण सर्वत्र पाया जाता है। एकनाथका कोई ग्रन्थ उठा लीजिए, उनकी कवितामें कृत्रिमता कहीं दिखाई न देगी। भाषा मधुर, शुद्ध, सरल, प्रभावशील और वर्णनशैली रोचक है। पाठक जैसे-जैसे पढ़ता जाता है वैसे-वैसे उसकी चित्तवृत्ति विकसित होती जाती है और ग्रन्थ छोड़नेको जी नहीं चाहता। एकनाथने ज्ञानेश्वरकालीन प्राचीन और क्लिष्ट शब्दोंका प्रयोग अपनी भाषामें नहीं किया; नहीं तो आज भी इन अपरिचित शब्दोंकी भरमार मराठी भाषामें पाई जाती। उस समय जब कि मराठी भाषा उपेक्षित अवस्थामें थी भागवत और रामायणसदृश उत्कृष्ट ग्रन्थोंके रचयिताकी विद्वत्ता, काव्यशक्ति और साहसको श्लाघ्य ही मानना पड़ेगा।

स्वतंत्र कविता करनेमें एकनाथ जितने कुशल हैं उतनेही एक भाषासे दूसरी भाषामें सरस अनुवाद करनेमें भी वे सिद्धहस्त हैं। संस्कृत काव्यका मराठी काव्यमें अनुवाद करनेकी कुशलता उनमें अच्छी पाई जाती है। एकनाथ संस्कृत भाषाके पण्डित थे। उनमें संस्कृतमें कविता करनेकी क्षमता थी। उस कालमें संस्कृतमें कविता करनेकी परिपाटी थी; परन्तु जनसाधारण प्रायः संस्कृतसे परिचित न थे। इसलिए अनपढ़ लोगोंको संस्कृत ग्रन्थके रहस्य बतानेके लिए इस कविने भागवतसदृश महत्त्वपूर्ण ग्रन्थका विषय प्राकृत जनोंको सुगम करनेके लिए सब काव्य प्रसाद गुणयुक्त मराठीमें किया है। मूल अर्थ स्पष्ट करनेके लिए एक-एक श्लोकपर कई अध्याय लिखे हैं और वेदान्तसदृश कठिन विषयको भी अत्यन्त मनोरंजक बना दिया।

एकनाथके उपलब्ध ग्रन्थ सात हैं जिनके दो भेद हैं—अध्यात्म-विषयक और चरित्रविषयक। भावार्थ-रामायण और रुक्मिणी-स्वयंवर चरित्रविषयक ग्रन्थ हैं। एकनाथी भागवत, स्वात्मसुख, चतुःश्लोकी भागवत-टीका, हस्तामलक, आनन्दलहरी अध्यात्मविषयक ग्रन्थ हैं। जिनकी बुद्धि अध्यात्मविषयक ग्रन्थोंमें प्रवेश नहीं कर सकती ऐसे पाठकोंके लिए भावार्थ-रामायण और रुक्मिणी-स्वयंवर-जैसे रोचक ग्रन्थोंको एकनाथने तैयार किया है। इन ग्रन्थोंमें स्थल-स्थलपर भिन्न-भिन्न प्रसंगोंका कविने इतना सुन्दर वर्णन किया है कि ग्रन्थ पढ़ते-पढ़ते हर्ष, शोक, आनन्द, आश्चर्य, करुणा, प्रसन्नता गाम्भीर्य आदि वृत्तियोंकी छाप अन्तःकरणपर पड़े बिना नहीं रहती। रामायणमें रामचन्द्रके गुण, स्वभाव, पराक्रम पढ़ते ही यह प्रतीत होता है कि राम नीति, सदाचार, शान्ति, वात्सल्य, प्रेम, आनन्द और शौर्यकी जीती-जागती मूर्ति ही हैं। भरत और लक्ष्मणके सम्बन्धमें दिए हुए स्थलोंको पढ़िए; तो सच्चे बन्धु-प्रेम और प्रीतिका चित्र आपके सामने आकर खड़ा हो जाता है। मन्थरा और कैकयीका पारस्परिक संभाषण, कैकयी-द्वारा दशरथकी भर्त्सना, भरतको राज्य स्वीकार करनेके लिए कहा गया बुद्धिवाद पढ़िए; तो प्रतीत होगा कि कुटिलता, कुबुद्धि, मत्सर, द्वेष इत्यादि दुष्ट गुणयुक्त राक्षस भी मनुष्यके रूपमें संसारमें जन्म लेते हैं। वनवासके समय राम और सीताके पारस्परिक प्रेमयुक्त संभाषण, उनकी विरह-व्यथाके हृदयवेधक उद्गार और

पवित्र आचरण पढ़िए; तो बोध होगा कि संसारमें नीतिसम्पन्न प्रेमपूर्ण दम्पति कैसे सुखसे जीवन व्यतीत करते हैं ! एकको ज़रा-सा कष्ट हो तो दूसरेके प्राण कैसे व्याकुल हो जाते हैं ! एकनाथने चरित्रविषयक स्थलोंको रुचिकर बनानेके लिए भिन्न-भिन्न रसों और अलंकारोंका प्रयोग किया है । नीचे एकनाथके काव्यके ऐसे कुछ उद्धरण दिए जाते हैं । यथासंभव तुलसीदासके काव्यसे उनकी तुलना भी की जाएगी ।

वात्सल्य

एक समय विश्वामित्र ऋषि राजा दशरथके पास आए और उन्होंने उनके दोनों पुत्रोंको यज्ञ-रक्षाके लिए माँगा । राजा दशरथ मुनिके वचनको न टाल सकते हैं और न राम-लक्ष्मणको मुनिके साथ ही भेज सकते हैं । विश्वामित्रके वचन सुनकर राजाके मनमें अनेक भाव उत्पन्न होने लगे । उनका शौर्य जाता रहा और सारा शरीर काँपने लगा । सर्पके सिर काँटा चुभनेपर अथवा कुण्डलीकार साँपकी पूँछ टूटनेपर जो दशा सर्पकी होती है, अथवा जो दुःख मछलीको जलसे बाहर होनेपर होता है वैसाही दुःख राजाको राम और लक्ष्मणके वियोगमें अनुभव होता था । वन्दरके मुँहके चनों अथवा सूमके धनके समान राजा दशरथका मन राममें फँसा हुआ था । सूम अपने प्राणोंको छोड़ सकता है; परन्तु धनको नहीं छोड़ सकता । वही दशा राजा दशरथकी रामके प्रति थी । जिस प्रकार भिखारी अपने टूटे-पूटे बरतनोंके चोरी जानेपर अत्यन्त दुःखी होता है—कारण कि वह बरतनोंको अपनी सम्पत्ति ही समझता है—इसी प्रकार दशरथ रामचन्द्रको अपनी अलौकिक सम्पत्ति समझते थे ।

“ ऐकोनि ऋषीचें वचन । गजबजलें रायाचें मन ॥

वीर्य गेलें हरपोन । कम्पायमान सर्वांगीं ॥

सर्पकपाळीं कांटा नेहटे । कां साप-सुरलीचें पुच्छ तुटे ॥

मासा जळावेगळा फुटे । तैसें दुःख नाटे रायासी ॥

चणे वानरा गालीचे । कां धन जैसें कृपणाचें ॥

भाणें नेलें भणगाचें । तैसें रायाचें मन श्रीरामीं ॥

राजा दशरथकी व्याकुलताके ये पाँच दृष्टान्त कितने उपयुक्त और प्रतिदिनके अनुभव और निरीक्षणके हैं ! तुलसीदासने राजा दशरथकी दशाका यों वर्णन किया है :—

“ इस अप्रिय वाणीको सुनकर राजाका हृदय काँपने लगा और मुँह फीका पड़ गया। फिर वे बोले—‘हे विप्र ! बुढ़ापेमें मुझे चार लड़के मिले हैं। आपने सोच-विचारकर यह बात नहीं कही। पृथ्वी, गो, धन, कोष जो आप माँगें, मैं सहर्ष दूँ। हे मुनीश्वर ! शरीर और प्राणसे बढ़कर कोई वस्तु प्यारी नहीं है; किन्तु वे भी पलमें दे सकता हूँ। यद्यपि सब पुत्र मुझ प्राणोंके समान प्रिय हैं तथापि हे मुनि ! श्रीरामचन्द्र नहीं दिए जाते। ’ ”

“ सुनि राजा अति अप्रिय बानी । हृदय-कम्प-मुख द्युति कुम्हलानी ॥
चौथेपन पायउँ सुत चारी । विप्रवचन नहिं कहेउ विचारी ॥
माँगहु भूमि, धेनु धन, कोषा । सर्वस देउँ आजु सह रोषा ॥
देह-प्राणतें प्रिय कछु नाहीं । सोउ सुनि देउँ निमिष इक माहीं ॥
सब सुत प्रिय मोहिं प्राणकी नाई । राम देत नहिं बनें गुसाई ॥ ”

दोनों कवियोंके भावोंमें कितना साम्य है ! कुछ चरण तो ज्यों-के-त्यों प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ—“ कम्पायमान-सर्वांगी ” और “ हृदय-कम्प-मुख द्युति कुम्हलानी । ” फिर “ गजबजलें रायाचें मन ” और गीतावलीके “ रहे ठगि-से नृपति सुनि मुनिवरके बयन ” की भी तुलना कीजिए ।

स्वरूप-सौन्दर्य

स्वरूप-सौन्दर्यका वर्णन भी एकनाथने जगह-जगह किया है। अहल्याकी सुन्दरताका वर्णन कविने यों किया है :—

“ ब्रह्माने तीनों लोकोंकी सुन्दरताको बटोरकर एक कन्या निर्माण की जो अहल्या नामसे प्रसिद्ध हुई। उसका शरीर ऐसा कोमल और सुकुमार था कि चन्द्रमाकी किरणें भी उसे शल्य-सी चुभती थीं। पद्मिनीकी कांति उसके सामने फीकी पड़ जाती है। उस तन्वंगीका शरीर आकाशसदृश मृदु है। उसके अंगको स्पर्श करते ही मन और इन्द्रियें चञ्चल हो उठती हैं। उसके

अधरपानमें अमृतसे अधिक मिठास है। उसके मुखको देखकर आँखें प्रफुल्लित होती हैं। उसके मुखसौन्दर्यकी शोभा और शरीरकी कान्तिके सामने चन्द्रमा म्लानमुख हो जाता है और संन्यासी मूर्च्छित और निरीह हो जाता है। उसके रूप-लावण्यको देखकर विवेक जाता रहता है। उसकी अत्यन्त मनोहरतापर आँखें टकटकी बाँधे देखती रहती हैं और धैर्य टूटने लगता है।”

“ त्रैलोक्यांचें बरवेपण । ब्रह्मयानें येकवटोनी आपण ।

स्वयं कन्या केली निर्माण । अहिल्या जाण तीस नांव ॥ १४ ॥

शरीर अत्यन्त सुकुमार । खुपों शकती चन्द्रकर ।

पद्मगपद्मिणी तीपुढें निबर । निजागें अरुवार नभापरिस ॥ १५ ॥

तिचें होतांची स्पर्शन । मनादि इन्द्रियां गुदगुल्या पूर्ण ।

फिकें अमृताचें गोठपण । तिचें बरवेपण देखोनी ॥ १६ ॥

देखोनि तीविया मुखासी । अत्यन्त सुख डोळ्यांसीं ।

ते मुखीं झाले क्षेत्र संन्यासी । आन पहावयासी नावडे ॥ १७ ॥

अत्यन्त सौन्दर्याची शोभा । चन्द्र लोपे अंगप्रभा ।

देखोनि लावण्याचा गाभा । विदेकाचा उभा प्राण जाय ।

तिसी होतां डोळे भेटी । धैर्याची विरे गांठी ।

बरवेपणें अत्यन्त लाठी । देखल्या दृष्टि उपडेना ॥ १९ ॥

शृंगारका कैसा मार्मिक वर्णन है ! हमारे साधु, स्वभावगत वैराग्यशील होते हुए भी, कवि-हृदय रखते हैं और प्रेमी जनोंके गूढ़ हृदयगत भावोंके पूर्ण परीक्षक हैं। तुलसीदासने अहल्याकी सुन्दरताका वर्णन तो नहीं किया है; परन्तु २४ वीं ओवीमें जिस अलंकार और भावका वर्णन एकनाथने किया है वैसाही तुलसीदासने सीताकी सुन्दरताके सम्बन्धमें प्रदर्शित किया है:—

“ नारि सुकुमारि संग, जाके अंग उबटि कै ।

विधि विरचे वरुथ विद्युत छटनिके ॥ ”

“ संग लिए विधु बेनी बधू, रतिको जेहि रंचक रूप दियो है ।”

(कवितावली)

यदि एकनाथके ब्रह्मदेव तीनों लोकोंकी सुन्दरताको बटोरकर अहल्याका निर्माण करते हैं तो तुलसीदासके ब्रह्मा सीताजीके अंगके उबटनसे विद्युत्-समूहके सौन्दर्यका सृजन करते हैं अथवा सीताके रूपसे थोड़ा-सा सौन्दर्य लेकर रतिको परम सुन्दरी बनाते हैं ।

सौन्दर्य-वर्णनका दूसरा उदाहरण देखिए । जनकपुरीमें स्वयंवरके लिए अनेक राजा सभामण्डपमें आकर बैठे हैं । प्रचण्ड चाप देखकर प्रेक्षकोंकी छाती दहल उठती है । इतनेहीमें अलंकृत सीता सखियोंके साथ सभामण्डपमें पधारीं । उस समय सीताजीकी सुन्दरताका वर्णन एकनाथने इस प्रकार किया है :—

“चन्द्रमा पूर्णमासीको ही पूर्ण दिखाई देता है; परन्तु सीताका मुख सदा पूर्ण चन्द्रमाके समान शोभा देता है । चन्द्रमामें राहुका बिम्ब पड़नेसे कभी-कभी ग्रहण पड़ता है; परन्तु सीताके मुखपर सदा रामका बिम्ब रहता है (सीता सदा रामके दर्शन करती रहती हैं) । चन्द्रमें कलंक होता है; परन्तु सीताजीका मुख निष्कलङ्क है । सीताजीके मुखके दर्शनसे भक्तजनोंके दुःख दूर हो जाते हैं ।”

“चन्द्र पौर्णिमेसीच पूर्ण । मुखचन्द्र तो संपूर्ण ।

चन्द्रा-राहचें पूर्वी ग्रहण । यथे नित्य ग्रहण श्रीरामों ॥१६॥

चन्द्रबिम्बास कलंक । मुखचन्द्र निष्कलङ्क ।

देखतां सीतेचें श्रीमुख । होती निर्दुःख भावार्थी ॥१७॥

कवि सीताके मुखको चन्द्रमाकी उपमा देता है; परन्तु चन्द्रमामें बहुत-से दोष हैं, जिनसे जानकीका मुख विमुक्त है । अतएव चन्द्रमाके इन दोषोंका वर्णन करता है । तुलसीदासजी भी सीताके मुखको चन्द्रमाकी उपमा देनेमें सकुचाते हैं, कि बेचारा चन्द्रमा सीताजीके मुखकी बराबरी नहीं कर सकता । कारण कि चन्द्रमाविषका भाई है, कलंकी है, दिनमें मलीन रहता है, घटता बढ़ता है विरहीको दुःख देता है राहुभी मौका पाकर ग्रस लेता है । चकवा-चकवीको शोक देनेवाला है । कमलका द्रोही है ।

“जन्म सिन्धु पुनि बन्धु विष, दिन मलीन सकलङ्क ।

सिय मुख समता पाव किमि चन्द्र बापुरो रङ्क ॥

घटं बढ़े बिरहिन दुखदाई, ग्रसे राहु निज सन्धिहि पाई ।

कोक शोकप्रद पङ्कज द्रोही, अवगुण बहुत चन्द्रमा तोही ॥

इधर एकनाथ फिर सीताके मुखको चन्द्रमाकी उपमा देकर पूर्णोपमा-द्वारा सादृश्य स्थापित करते हैं। चन्द्रमाके चारों ओर नक्षत्र होते हैं; तो सीताके मुखके चारों ओर मिर और कानोंपर मोतीके अलङ्कार शोभित हो रहे हैं। सीताके मस्तकपर रामके प्रेममें रंगे हुए सुरंग कुंकुमका मलवट (कुंकुमका लेप) है।

चन्द्रमामें धब्बे होते हैं। सीताके मुखपर कस्तूरीका मलवट लगा है और उसपर कुंकुमकी बिंदिया है जो मुखचन्द्रकी शोभा बढ़ा रही है। सीताके मस्तकपर लगी हुई मलवट और बिंदिया उसके अखण्ड सुहागकी सूचना दे रही है। जानकीके मस्तकपर लगी हुई चन्द्राकार खौर ऐसी प्रतीत होती है मानो क्षयरोगी चन्द्रमा जानकीके मस्तकपर जाकर इसलिए चिपक गया है कि वह नीरोग हो जाय।

“चन्द्रीं नक्षत्रें पुढें मागें । तंसीं तानवडें मोतिलगें ।

कुंकुम सुरंग राम रंगे । तोचि निजागें मलवट ॥ १८ ॥

चन्द्रांबिबीं काळिमेचा काट । तैसा कस्तूरीचा मलवट ।

मुखचन्द्रीं मिखे चोखट । त्यावरी बोट कुंकुमाचें ॥ २४ ॥

श्रीराम रंग अति सुरंग । तेणें रंगें रंगले कुंकुम चांग ।

अहेवपण तेणें अभंग । निडळीचें अंग शोभवी शोभा ॥ २५ ॥

चन्द्र सदा क्षयरोगी । तेणें बहावया निरोगी ।

जडला जानकीच्या अंगीं । जाला सवेगीं अर्धचन्द्र ॥ २६ ॥

उधर तुलसीदास सीताकी सुन्दरताकी उपमाके लिए बहुत-से उपमानोंकी तलाश करते हैं। वे सरस्वती, पार्वती, लक्ष्मी और रति किसीको इस योग्य नहीं पाते। कारण कि सरस्वती वाचाल, पार्वती अर्द्धांगी और रतिके पति शरीररहित हैं और लक्ष्मीको विष और वारुणी अपने दोनों भाई प्रिय हैं। वे ऐसी लक्ष्मीको सीताके लिए उपमा देनेमें संकोचपूर्वक उद्यत होते हैं जिसको सुन्दरता एवं अमृतके समुद्रसे मथकर निकाला जाय। समुद्र-मन्थनके लिए परम रूपमय कच्छपको आधार बनाया जाए, शृंगाररूपी मन्दराचलकी रई बनाई जाए। इस रईको

शोभारूपी रस्सीमें लपेटा जाए और कामदेव स्वयं अपने कर-कमलोंसे इस रस्सीको पकड़कर मंथन करे।

“ गिरा मुखर तनु अर्द्ध भवानी ॥ रति अति दुःखित अतनु पात जानी ॥
विष वारुणी बन्धु प्रिय जेही । कहिय रमा सम किमि वंदेही ॥
जो छबि सुधा पयोनिधि होई । परम रूपमय कव्युप सोई ॥
शोभा रजु मन्दर शृंगारू । मथै पाणि पंकज निज मारू ॥
यहि विधि उपजे लच्छि जब, सुन्दरता सुखमूल ॥
तदपि सँकोच समेत कवि, कहँहि सीय समतूल ॥”

तुलसीदासजीने सीताका नख-गिख वर्णन नहीं किया है। कारण कि वे उन्हें जगत्-जननी समझते थे और जननीके शृंगार-वर्णनको अमर्यादित समझा जाता है। वे कहते हैं :—

“ सिय सोभा नहि जाय बखानी । जगदम्बिका रूप गुण खानी ॥”

एकनाथकी १८ वीं ओवीको पढ़कर ब्रजके एक ग्राम-गीतका स्मरण आ जाता है। इसमें मोती अथवा मोतियोंसे जड़े आभूषणोंमें मुखकी ज्योतिको जगमगाते हुए बताया गया है। यह ग्राम-गीत १८ वीं ओवीके पहले दो चरणोंके समझनेमें पूरकका काम करेगा :—

“ पाटी पारि माँग मुक्ताहल, सीस फूल सिर सोहँ ।
बेनाकी छबि कहँ लौं बरनौं, देखत ही मन मोहँ ॥
जुगल करण तरमन जड़ाउ, जगमगत जोति अति राजँ ।
नैनन काजर अति छबि लागे, चितवन चितको मोहँ ॥”

इसी प्रकार मरुवट (मलवट) का भी उल्लेख एक ग्राम-गीतमें मिलता है :—

“ मरुवट दूरी माथेपर आई, गोरोचन तिलक लिलार ।
बड-बड़री बड़ी आँखें बनाकी चितवन मन हर लेइ ॥”

१८ वीं ओवीमें वर्णित उपमाका प्रयोग सूरदासने श्रीकृष्णकी सुन्दरताका वर्णन करते हुए बड़ा ही सुन्दर किया है। वे कहते हैं कि श्रीकृष्णके मस्तकपर नीली, सफेद, पीली और लाल मणियोंसे जटित आभूषण ऐसे प्रतीत होते हैं मानो शनि, शुक्र, गुरु और मंगल चन्द्र-मुखके साथ-साथ शोभा देते हैं' :—

नील स्वेतपर पीत लाल मनि, लटकनि भाल रुनाई ।

सनि गुरु असुर देव-गुरु मिलि मनु, भौमसहित समुदाई ॥

वियोग-शृंगार

भावार्थ-रामायणमें वियोग-शृंगारके बहुत-से स्थल हैं। मारीच राक्षसको मारकर जब राम आश्रममें वापिस आते हैं तो कुटीको खाली देखने हैं। जब इधर-उधर देखनेपर सीताका पता न चला तो यह समझकर कि धोखा हुआ रामका अन्तःकरण शोकसे व्याकुल हो उठा। उनके नेत्रोंमें आँसू भर आए और दुःख असह्य होनेके कारण वे मूर्च्छित हो पृथ्वीपर गिर पड़े। उस समयके दुःखद प्रसंगका कविने जो वर्णन किया है उसे देखिए :—

“सीताके विरहमें ‘हाय सीता ! हाय सीता !’ कहते हुए श्रीगुह्यनाथजी अति दुःखी हुए और बेसुध हो गए। वे वनमें पागलोंकी तरह सीताकी खोजमें घूमने लगे। वे कहीं रुक जाते थे और कहीं वेगसे चलने लगते, कहीं रोते और कहीं गिर पड़ते थे। ‘सीता ! सीता !!’ कहकर बड़े दुःखमें गमने पुकारा, फिर, लक्ष्मणसे कहने लगे कि हे सखा ! तुम चुप बैठे क्या देख रहे हो ?” :—

“मूर्छापन्न मूर्छे आंत । हाय हाय सीता म्हणत ।

सीता-विरहें श्रीरघुनाथ । दुःखाभिभूत अतिदुःखी ॥ ८९ ॥

हा हा सीते ! हा हा सीते !! म्हणोनि पाहे सभोंवते ।

न देखोनियां सीतेतें । वनीं वनान्तरीं परिभ्रमे ॥ ९० ॥

कोठें अडखळे कोठें उडे । कोठें रडे कोठें पडे ।

सीताविरहें झाले वेडे । पाहे चहूंकडे जानकी ॥ ९३ ॥

सीता ! सीता !! म्हणोनि देखा । अति आक्रोशें मारी हांका ।

लक्ष्मण तं माझा सखा । उगाचि तूं कां पाहतोसी ॥ ९४ ॥

“रामचन्द्रजी वृक्षोंको देखकर कहने लगे कि हे पर्वतस्थ वृक्ष ! तुम्हारी दृष्टि दूरतक जाती है; इसलिए तुम मेरे हृदयके सन्देहको निश्चित ही दूर करने योग्य हो। लाल लाल नेत्रोंवाली, बिम्बोष्ठी, सुन्दर नासिकावाली, सुकुमारी, पीताम्बरधारी, कमरमें रत्नजड़ित करधनी पहने हुए सीताको क्या तुमने देखा है ?”

“पर्वतोंचे वृक्ष हो। तुम्ही दुरी देखतां पहा हो।

तरी माझ्या हृदयींचा सन्देहो। निःसन्देहो तुम्ही करा ॥ १०१ ॥

आरक्त नेत्र आरक्त अधर। सुन्दर सुनासिक सुकुमार।

कटि रत्नाढ्य कटिसूत्र। पीताम्बरधारी जानकी ॥ १०४ ॥”

तुलसीदासजीने भी इसी स्थलपर विप्रलम्भ-शृंगारका सुन्दर वर्णन किया है। उनके राम भी वनके पक्षियों, मृगों, भौरोंसे पूछते हैं कि ‘क्या तुमने मृगनयनी सीताको देखा है ? इसके बाद तुलसीदास उपमेयको न बताते हुए उपमानद्वारा सीताके प्रत्येक अंगकी सुन्दरताका वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि “हे जानकी ! तुम्हारे न रहनेसे आज खंजन, शुक, कपोत, मृग मछली, भौरोंके समूह और चतुर कोयल सब प्रसन्न हैं। कुन्दकी कली, अनार, बिजली, कमल शरद् ऋतुकी पूर्णिमाका चन्द्रमा, नागिन, वरुणपाश, कामदेवका धनुष, हंस और सिंह आज अपनी प्रशंसा सुननेके योग्य बने हैं। श्रीफल, सुवर्ण केलेके वृक्ष सब प्रसन्न हैं और सब आज निःसंकोच व निःशंक हैं। मानो हे जानकी ! तुम्हारे बिना सबको अप्रतिम राजही मिल गया है। हे सीता ! हे सीता ! तुम इनके गर्वको क्यों कर सहन करती हो ? शीघ्र प्रगट क्यों नहीं होती ?” श्रीरामचन्द्रजी महा-विरही और अतिकामीकी भाँति इस प्रकार सीताको ढूँढ़ते फिरते हैं।

“हे खग मृग हे मधुकर श्रेणी। तुम देखी सीता मृगनयनी ॥

खंजन शुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रवीना ॥

कुन्द कली दाड़िम सुदामिनी। कमल शरद शशि उरग गामिनी ॥

वरुण पाश मनोज धनु हंसा। जन केहरि निज सुनत प्रशंसा ॥

श्रीफल कनक कदल हरषाहीं। नेकु न शंक सकुच मन माहीं ॥

सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं ॥

यहि विधि बिलपति खोजत स्वामी। मनो महा विरही अति कामी ॥”

इसके पश्चात् विरहमें व्याकुल रामचन्द्रजी लक्ष्मणसे कहते हैं :—
 “हे सौमित्र ! सीताके वियोगमें दुःखी मेरे प्राण अब निकलना चाहते हैं ।
 मेरा मरण अब निश्चित है । जल्दीसे चिता तैयार करो ।” वे ‘सीता ! सीता !’
 पुकारते हुए कभी इधर दौड़ते हैं, कभी उधर । रामचन्द्र इस उन्मत्त
 अवस्थामें वृक्षोंको अपनी प्रिय स्त्री समझने लगते हैं । बेलों और लताओंको
 छातीसे लगा लेते हैं । पत्थरोंको भी सीता समझकर चूमने लगते हैं ।
 कभी दौड़कर तिनकोंको अपने हृदयसे लगा लेते हैं और तूणोंको ही
 सीता समझ लेते हैं । कभी लक्ष्मणसे कहने लगते हैं कि ‘तू ही मेरी सीता
 है ।’ श्रीरामचन्द्रजी अपने भ्रममें प्रत्येक वस्तुमें सीताके ही दर्शन करते हैं :—

सीतावियोगें विरह जाण । माझा निघों पाहे प्राण ।
 सौमित्रा वेगीं रची सरण, अलोट मरण मज आलें ॥ २० ॥
 ऐसें बोलतां बोलत, सर्वेचि धावें म्हणे सीता ।
 वृक्षासी म्हणे माझी कांता, गुल्मलता आलिंगी ॥ २१ ॥
 सीता म्हणोनियां जाण, श्रीराम चुंबी पाषाण ।
 धांवोनि हृदयीं धरी तूण, सीता सम्पूर्ण हे माझी ॥ २२ ॥
 लक्ष्मणासी म्हणे तूं सीता, तूंचि माझी निज कांता ।
 ऐसी सीतेची अवस्था, श्रीरघुनाथा निजभ्रांती ॥ २३ ॥

(अरण्यकाण्ड अ० १९)

१०१ और १०४ ओवियोंको पढ़कर उत्तर राम-चरित-मानसमें
 “ उन्मत्त राघव ” का वर्णन हमारे सामने आ खड़ा होता है :—

“रे वृक्षाः पर्वतस्थाः गिरिगहनलता वायुना बीज्यमाना ।
 रामोऽहं व्याकुलात्मा दशरथतनयः शोकशुक्लेण दग्धः ॥
 बिम्बोष्ठी चारुनेत्री सुविपुलजघना बद्धनागेन्द्रकांची ।
 हा सीता केन नीता मम हृदयगता को भवान् केन दृष्टा ॥

वियोग-शृंगारका कितना उत्कृष्ट वर्णन है ! कितनी हृदयबोधक
 शैली है ! दुःखका कैसा आवेग है कि मानव उन्मत्त हो जाता है ! अपने
 ए.तु....३

प्रियके वियोगमें जो मानसिक दशा होती है उसका कैसा मनोवैज्ञानिक चित्रण है कि चेतन-अचेतनके बन्धन टूट जाते हैं ! वियोगी जड़ चेतन सर्वत्र अपनी प्रेयसीके दर्शन करता है !

ईर्ष्या

रामके विवाहके पश्चात् अयोध्यामें घर-घर मङ्गलाचार होने लगे । कुछ समय आनन्दोत्साहमें व्यतीत होनेपर राजा दशरथके मनमें यह विचार उत्पन्न होता है कि रामका राज्याभिषेक किया जाय । राज्याभिषेककी तैयारियाँ, शहरकी शोभा और नगरवासियोंको आह्लादित देखकर मंथरा घबराई हुई कैकईके महलमें जाती है और उसकी कठोर शब्दोंद्वारा निर्भत्सना करती है । मंथरा कैकईसे कहती है :—

“ऐ मूर्ख ! दुःखको सुख मानकर तू क्यों सो रही है ! रामचन्द्रके राज्याभिषेकके आनन्दोत्सवकी तैयारी देखकर तू अत्यन्त हर्षित है; परन्तु तू नहीं जानती कि इससे तुम्हारा महा अकल्याण होनेवाला है । तू इस गर्वमें भूली हुई है कि मैं राजाकी परम प्रिय रानी हूँ; परन्तु यह नहीं जानती कि कौशल्या राजाकी प्रेमपात्र बन गई है । तू तो समझती यह है कि राजा अपना है; परन्तु वह तुम्हसे कपट कर रहा है और तू इस छलको पहचान न सकी । जिस राज्य-वैभवका तुम्हें गर्व है उसे राजा दशरथ श्रीरामचन्द्रजीको दे रहे हैं । अब वैभव कौशल्याके पास चला गया है और तू इससे अनभिज्ञ है ।”

ऊठ मूर्खे काय निजशी । सुख मानिशी तें दुःख ॥

रामराज्याचें मानिसी सुख । गुडचा तोरणें अति हरिख ॥

तेंचि तुज होय महा दुःख । परि तूं मूर्ख नेणसी ॥

मी रायाची पडियंति । या गर्वे तुज पडिली भ्रान्ती ॥

सौभाग्य गेलें कौसल्येप्रति । तें तूं निश्चिती नेणसी ॥

राजा दशरथ आपण । तुज छळितो संपूर्ण ॥

याचें तूं नेणसी लक्षण । पडियंति पूर्ण अति गर्वीं ॥

तूं गर्वित जें राज्यवैभवेसी । तें राज्य राजा देतो श्रीरामासीं ॥

वैभव गेलें कौसल्येपासीं । तूं नेणसी मूर्खत्वे ॥

तुलसीदासने भी मंथराके मुखसे इसी भावके शब्द कहलाए हैं। “कौशल्याको विधाता खूब दाहिना हुआ कि यह उत्सव देखकर हृदयमें घमंड नहीं समाता। तुम स्वयं जाकर नगरकी सब शोभा क्यों नहीं देखती हो, जिसे देखकर मेरे मनमें दुःख होता है ! तुम्हारा पुत्र परदेशमें है। तुमको कुछ भी फिक्र नहीं। जानती हो कि राजा हमारे वशमें हैं। तुम्हें तकि-सहित सेजपर नींद ही बहुत प्यारी लगती है। राजाके कपट और चतुराईको नहीं जानती हो। तुमको सुहागके बलसे सोच नहीं है। तुम राजाको अपने वश जानती हो। सो राजा मुँहके मीठे और मनके मैले हैं और तुम्हारा स्वभाव सीधा है। कौशल्या यह जानती है कि सब सोते तो मेरी अच्छी भाँति सेवा करती हैं; परन्तु भरतकी माता पतिके बलसे घमंडमें है। हे माई ! कौशल्याको तुम काँटेकी तरह खटकती हो; परन्तु कौशल्या बड़ी चतुर है। उसका झल दिखाई नहीं पड़ता।”

भा कौशल्यहि विधि अति दाहिन । देखत गर्व रहत उर नाहिन ॥

देखहु कस न जाय पुर शोभा । जो अवलोक मोर मन क्षोभा ॥

पूत विदेश न सोच तुम्हारे । जानतु हो वश नाह तुम्हारे ॥

नींद बहुत प्रिय सेज तुराई । लखहु न भूप कपट चतुराई ॥

तुम्हहि न सोच सुहाग-वश, निजवश जानहु राव ।

मन मलीन मुँह मीठ नृप, राउर सरल स्वभाव ॥

सेवाहि सकल सवति मोहि नोके । गर्वित भरत मातु बल पीके ॥

शाल तुम्हार कौशलहि माई । चतुर कपट नहि परत लखाई ॥

एकनाथने नगरके उत्साहको बतलानेके लिए “गुढ्या तोरणे” का प्रयोग किया है; तो तुलसीदासने “पुरशोभा” द्वारा इसकी अभिव्यंजना की है। एकनाथने जिस भावको “राजा आपण व मी रायाची पढियति।” द्वारा अभिव्यक्त किया है उसे तुलसीदासने “जानतु हो वश नाह तुम्हारे।” व “तुम्हहि न सोच सुहाग बल।” द्वारा व्यक्त किया है। “तुज छळितो संपूर्ण।” की व्यंजना “लखहु न भूप कपट चतुराई।” व “मन मलीन मुँह मीठ नृप।” द्वारा की गई है।

स्त्रीहठ

रतिभोगकी इच्छासे राजा दशरथ कैकेईके महलमें जाते हैं। तो क्या देखते हैं कि वह पृथ्वीपर लोट रही है! शरीरके सब आभूषण फेंक दिए हैं। वस्त्रोंको फाड़कर लत्ता कर दिया है। बाल बिखेर लिए हैं। आँखें रोते-रोते सूज गई हैं। कैकेईको इस कुअवस्थामें देखकर दशरथ उसको समझानेके लिए आगे बढ़ते हैं और कहते हैं :—

हे रानी ! आज तू रूठी क्यों है ? तू जिसे चाहे उसे मैं सुसंपन्न कर दूँ। उसे हाथी, घोड़े इत्यादि संपत्तिसे मालामाल कर दूँ। तू जिसको चाहे उसमें मैं बंधनसे छुड़ा दूँ। मेरे जीते जी तूने मङ्गलसूत्र क्यों तोड़ डाला है और शवके समान धरतीपर लेटी हुई है ? तूने इस अशुभ वेषको क्यों धारण किया है ?

ज्यासी म्हणसी करा समर्थ । गजान्त लक्ष्मी देईन तेथें ॥

करा म्हणसी बंधनिर्मुक्त । त्या निर्मुक्त करीन मी ॥

मी असतां शिरावरी । त्वां कां तोडिला गळसरी ।

भूमिशयन प्रेताच्यापरी । अशुभकारी हें चिन्ह ।

इसी भावको तुलसीदास दशरथके मुँहसे यों कहलवाते हैं :—
“कहो किसी कङ्कालको राजा कर दूँ ? कहो, किस राजाको देशसे निकाल दूँ ? तेरे बैरी देवताको मार सकता हूँ, बिचारे स्त्री-पुरुष तो कीड़े हैं ! जो मनमें भावे उसी बातको हँसकर माँग, और मनको हरनेवाले शरीरमें गहने सजा। हे प्यारी ! समय-कुसमयको तो मनमें समझ ! देख, बुरे वेषको जल्दी त्याग दे ।”

कहु केहि रङ्गकहि करौ नरेशू । कहु केहि नृपहि निकारौ देशू ॥

सकौ तोर अरि अमरहु मारी । कहा कीट बपुरे नरनारी ॥

बिहँसि माँगु मन भावति बाता । भूषण साज मनोहर गाता ॥

घरी कुघरी समुझि जिय देखू । वेगि प्रिया परिहरहु कुवेखू ॥

यदि एकनाथने “ गजान्त लक्ष्मी ” का प्रयोग किया है तो तुलसीदासने “ रङ्गकहि करौं नरेशू । ” एकनाथके दशरथने बंधनसे निर्मुक्त करनेका आश्वासन कैंकेईको दिलाया है; तो तुलसीदासके दशरथने इस बातका विश्वास दिलाया है कि जिस राजाको तू चाहे मैं देशके बाहर निकाल दूँ । “ कां तोडिला गळसरी । ” के स्थानपर तुलसीदासने “ भूषण साज मनोहर गाता । ” का प्रयोग किया है और “ अशुभकारी हें चिन्ह । ” के स्थानपर “ परिहरहु कुवेखू । ” का प्रयोग किया है ।

कामलोलुपता

कैंकेईके प्रेमपाशमें बँधे हुए राजा दशरथकी क्या दुर्दशा होती है !

राजा दशरथने कैंकेईको मनानेके लिए ज्योंही उसका हाथ पकड़ा कि कैंकेईने उसे झकझोर और झटककर हाथ छुड़ा लिया । दशरथ कैंकेईके मुखको देखना चाहते थे; परन्तु वह अपना मुख दिखानेके लिए तैयार न थी । “ हे प्रिये ! तू अपना मुख मुझे नहीं देखने देती । ” यह कहकर राजा रोकर कैंकेईके चरणोंमें जा गिरे और कहने लगे कि तुम्हारे बिना मेरा जीवन व्यर्थ है ! कैंकेईने क्रोधावेशमें राजा दशरथको लात मारी और कहा — “ निर्लज्ज ! उठ यहाँसे । वापस जा । तू अपना मुँह मुझे क्यों दिखाता है ? अरे मूर्ख ! दो स्त्रियोंका स्वामी ! नहीं तू तो बड़ा पापी है ! तीन स्त्रियोंका पति है ! राजपाट कौशल्याको देकर तूने मेरा स्पष्ट अपमान किया है ।

तिशीं लावूं जातां हाता । तिणें झिझाडिलें नृपनाथा ॥
 तिचें मुख पाहूं जातां । मुख सर्वथा दावीना ॥
 प्रिया पाहों नेदी वदन । म्हणोनि रायासी आलें रुदन ॥
 धांवोनि धरिले तिचे चरण । प्रिये तुजविण मी परदेशी ॥
 येरी आसुंडिले पाय । ऊठ येथोनि परता जाय ॥
 मुख दाखवितोसी काय । निर्लज्ज पाहें तू एक ॥
 दोघा स्त्रियांचा पती तो शठ । तूं तिघींचा अति पापिष्ठ ॥
 माझा अपमान करोनी स्पष्ट । राज्यपट कौसल्येसी ॥

तुलसीदासने इस अवसरपर कैकेईको क्रोधित नागिनकी उपमा दी । सर्पके दो जिह्वाएँ होती हैं; तो कैकेईकी दो इच्छाएँ सर्पकी जिह्वाओंके समान थीं । एक इच्छा थी रामको वनवास और दूसरी थी भरतका राज्याभिषेक । सर्पके दो विषैले दाँत होते हैं । राजा दशरथ-द्वारा कैकेईको दिए हुए दो वरदान सर्पके जहरीले दाँतोंके समान हैं ।

केहि हेतु रानि रिसानि परसत पाणि पतिहि निवराई ।

मानहुँ सरोष भुअंग भामिनि विषम भाँति निहारई ॥

द्वज वासना रसना दसन वर मर्म ठाहुर देखई ॥

तुलसी नृपति भवितव्यता-वश काम कौतुक लेखई ॥

एकनाथके “ तिशीं लावूँ जातां हाता । तिणें भिभाडिलें नृपनाथा ” और तुलसीके “ केहि हेतु रानि रिसानि, परसत पाणि पतिहि निवराई ” में कितना साम्य है ! कविने इस संवाद-द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि कामपीडित मनुष्य कितना निर्लज्ज व निरपमान होता है ! बहु-पत्नी दोषका भी इससे पोषण होता है । सौतिया-डाह क्या नहीं कर सकता ?

रामको वनवास देनेके लिए असमंजसमें पड़े हुए राजा दशरथको देखकर कैकेई कहती है :—

“तू सूर्यवंशमें कापुरुष पैदा हुआ है । रामको वनवासके लिए नहीं भेजता है और इससे बचनेके लिए स्त्रियोंके पैरों पड़कर अपना गौरव खोता है । तेरे-जैसा निष्प्रेमी संसारमें दूसरा नहीं । तूने इस दीनताको दिखाकर सूर्य-वंशको लज्जित किया है । हे राजेन्द्र ! तुम बड़े कृपण विदित होते हो । तुम वचन देकर अब उसे ठुकरा रहे हो । तुम चाहो कि पाँव पड़नेसे मैं अपने वरदानोंको न मागूँ । ऐसा नहीं हो सकता है । तुम बड़े हठी हो । हृदयसे वरदान देना नहीं चाहते । यदि तुम मुझे यह कहकर वरदान न दोगे कि ‘तू मेरे इस मंगल कार्यमें विघ्न मत कर’, तो मैं अपने प्राण दे दूँगी, जिससे तुम्हारे चित्तको पूर्ण सुख और शान्ति प्राप्त हो ।”

नपुंसक तू सूर्यवंशी । रामा न धाडावें वनवासासी ॥

शेखी स्त्रियांच्या पायां लागसी निःसंग होसी तू एक ॥

अति दीनहीन तू होसी । लाज लाबिली सूर्यवंशासी ॥
 बोलिला बोल पै सांडिसी । कृपण होसी नृपनाथा ॥
 पायां पडलियासाठीं । मी न सोडीं वरद गोष्टी ॥
 देणें नाहीं तुझे पोटीं । महाहट्टी होसी राया ॥
 तू तब न देसी वरदान । मज म्हणसी महाविघ्न ॥
 तरि मी आपला देईन प्राण । सुख सम्पूर्ण हो तुम्हां ॥

स्वभाववर्णनकी कैसी सुन्दर शैली है ! सिर-चढ़ी स्त्रियाँ पूज्य पतिकी कितनी परवाह करती हैं और स्त्रैण पुरुष स्त्रियोंके सामने कैसा बिल्ली बन जाता है, इसका कैसा सुन्दर उदाहरण है !

तुलसीदासकी कैकेयी राजा दशरथके घावपर यों नमक छिड़कती है :—

“हे राजा ! तुम दो विपरीत वस्तुओंको एकसाथ साधना चाहते हो । यह उसी प्रकार असंभव है जिस प्रकार एकही साथ खिल-खिलाकर हँसना और गाल फुलाना । तुम दानी कहलाकर कृपणता करना चाहते हो । इस प्रकार तुम क्षेम व कुशल नहीं रह सकते । अब या तो वचन छोड़ दो या धैर्य धारण करो । रामके वियोगमें स्त्रीकी भाँति दुःख करनेसे क्या लाभ है ! सत्य संकल्पके लिए शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, धाम और पृथ्वी सब तूणके समान हैं ।”

दुइ कि होइ यक सङ्ग भुवालू । हंसब ठठाइ फुलाउब गालू ॥
 दानि कहाउब अरु कृपणाई । होहि कि क्षेम-कुशल रीताई ॥
 छांडहु वचन कि धीरज धरहू । जन अबला इव करुणा करहू ॥
 तन, तिय तनय धाम धन धरणी । सत्य-सन्ध कहं तृणसम बरणी ॥

कारुण्य

रामको वनवास देनेसे जो वियोग-दुःख होगा उसकी कल्पना राजाके मनमें आती है । वह गद्गद कण्ठसे हाथ जोड़कर रानीकी विनती करता है :—

“कमलनयन श्रीरामचन्द्र सुन्दर, सुकुमार और सुषमाके घर हैं । वनमें पैदल जाना वह कैसे सहन कर सकेंगे ? श्रीराम जो सुवासित वस्त्रोंको धारण

करते हैं वल्कल-वस्त्र कैसे धारण करेंगे ? बनकी उग्र गर्मी व सर्दीको वे कैसे सहन करेंगे ? श्रीराम जिनका शरीर इतना कोमल है कि पर्यंकपर बिछे हुए फूल भी छिदते हैं । हाय ! वे तिनकों और पत्तोंपर सोयेंगे ! अति स्वादिष्ट पञ्चामृत पीते जिनका मन कुण्ठित होता है वह खट्टे, चरपरे व कड़वे फल व कन्दमूल कैसे खायेंगे ? ”

सुन्दर मुकुमार सुखैकधन । श्रीराम हा राजीवनयन ॥
 त्यासी चरण-चाली गमन । दुर्धर वन केवि कण्ठे ॥
 सुवास-वासैं श्रीरघुवीर । त्यासि परिधान वल्कलाम्बर ॥
 शीत उष्ण अति दुर्धर । श्रीरामचन्द्र केवि साहे ।
 मृदु अरुवार सुखसेजेसी । मुमनें खुपती श्रीरामासी ॥
 तृण-पर्ण-शयन त्यासी । कैसेनि सोसि श्रीराम ।
 पंचामृत अति चोखटें । सेवितां श्रीरामाचें मन विटे ।
 त्यासी तिखट अंबट तुरटें । फळें-मुळें कडवटें केवि खाये ॥

तुलसीदासने इसी प्रसंगका वर्णन यों किया ह :—

“ नाना प्रकारके दूधफेनके समान स्वच्छ और कोमल गद्दोंपर रामचन्द्रजी और सीता शयन करते हैं । जिनकी सुन्दरताको देखकर कामदेव और रति लज्जित होते हैं वे सीता-राम थके हुए बिनावस्त्र साथरीमें सो रहे हैं । इनको इस अवस्थामें देखा नहीं जाता । जिनकी माता-पिता, कुटुम्बी, नगर-निवासी, सखा, सुशील, दास और दासी प्राणकी तरह रक्षा करते हैं वे ही राम आज पृथ्वीपर सो रहे हैं ! जिनके पिता जनकका संसारमें यश फैल रहा है, जिनके समुर दशरथ इन्द्रके सखा हैं, जिनके पति रामचन्द्रजी हैं वे सीता पृथ्वीपर सो रही हैं ! ब्रह्मा किसका वाम नहीं हुआ ! क्या सीता-राम वनके योग्य हैं ? संसारमें कर्म प्रधान है, यह सत्य ही है । ”

विविध वसन उपधान तुराई । क्षीर फेनुमृदु विशद सुहाई ॥
 तहँ सिय राम शयन निशि करहीं । निज छबिरति मनोज पद हरहीं ॥
 ते सिय राम साथरी सोये । श्रमित वसन बिनु जाहि न जोहे ॥
 मातु पिता परिजन पुरवासी । सखा सुशील दास अरु दासी ॥

जगुर्वहि जिनिहं प्राणकी नाई । महि सोबत सोई राम गुसाई ॥
 पिता जनक जगबिदित प्रभाऊ । समुर सुरेश सखा रघुराऊ ॥
 रामचन्द्र पति सो बंदही । महि सोबत विधिवामन कैही ॥
 सिय रघुवीर कि कानन योगू । कर्म प्रधान सत्य कह लोगू ॥

नाथने जिस भावको “ मृदु अरुवार सुखसेजेसी । सुमनें खुपती श्री रामासी । तूण-पर्ण-शयन त्यासी ” से व्यक्त किया है उसे तुलसीदासने “ विविध वसन उपधान तुराई । क्षीर फेनु मृदु विशद सुहाई ॥ ते सिय राम साथरी सोये । ” से प्रकट किया है ।

राजा दशरथ कैकेईको समझानेका फिर प्रयत्न करते हैं । वे कहते हैं :—

“ कैकेई ! सत्य समझ कि श्रीरामके वन जानेपर लक्ष्मण उनके साथ जायेंगे और उनके साथ मेरा प्राण जायगा । इस दुःखमें कौशल्या प्राण दे देगी और मुमित्रा भी जीती न रहेगी । इतनोंके प्राण जानेपर तू संतुष्ट होगी ! इतना विलाप न कर । मैं भरतको राज्यसिंहासनपर बिठा दूँगा ; परन्तु रामको वनवास देनेका अनर्थ मत कर । मैं तेरी शरण हूँ ! ” यह कहकर राजा दशरथने कैकेईके चरणोंपर माथा रख दिया और कहने लगे कि “ इस दशरथको क्षमा करो ! केवल यह वरदान न माँग कि रघुनाथजी वनको जायँ । ” कैकेईके चरणोंको अपने सिरपर रखकर वे जमीनपर लोट गए । यह देखकर कैकेई अत्यन्त रोषमें आकर कहने लगी ।

“ ऐ शठ ! यह नष्टता क्या करते हो ? ”

श्रीरामाचें वन-प्रयाण । त्या सांगतें जाईल लक्ष्मण ॥
 त्यासवें जाईल माझा प्राण । सत्य जाण कैकेई ॥
 दुःखें कौसल्या त्यजील प्राण । मुमित्रा मरेल सत्य जाण ॥
 येव्हडियांचा गेलिया प्राण । सुखसम्पन्न तूं होसी ॥
 दुर्धर करोनियां आकान्त । राज्यीं स्थापूं पाहसी भरत ॥
 येवढा न करी तूं अनर्थ । शरणागत मी तुझा ॥
 म्हणोनि चरणीं ठेविला माथा । क्षमा करो मज दशरथा ॥
 न मागावी हे वरद कथा । वना रघुनाथा न दवडावें ॥

म्हणोनि घातलें लोटांगण । धरिलें मस्तकीं तिचे चरण ॥

तंव ते क्षोभली दारुण । म्हणे शठ नष्टपण कां करिसी ॥

तुलसीदासने इस आशयको यों वर्णन किया है :—

“क्या सीता रामका साथ छोड़ेगी ? क्या लक्ष्मण घरपर रहेंगे ? क्या भरत नगरमें राज करेंगे ? क्या राजा दशरथ बिना रामके जीवित रह सकेंगे ? अर्थात् श्रीरामके वन जाते ही सीता और लक्ष्मण उनके साथ जायेंगे ! भरत नगरका राज न करेंगे और राजा दशरथ अपने प्राण तज देंगे !” फिर राजा दशरथ कहते हैं कि “भरतको अवश्य युवराज बनाओ; परन्तु श्रीरामको वन भेजनेका क्या प्रयोजन है ? श्रीरामके समान पुत्र क्या बनके योग्य है ? यह सुनकर तुम्हें लोग क्या कहेंगे ? हे कैकेई ! यह अच्छी तरह समझ लो कि श्रीरामके बिना अयोध्या उसी प्रकार श्रीहीन हो जायगी जिस प्रकार बिना सूर्यके दिन, बिना प्राणके शरीर और बिना चन्द्रमाके रात्रि ।”

सीय कि पिय संग परिहरहिं । लषन कि रहिहहिं धाम ॥

भरत कि भूजब राजपुर । नृप कि जिर्याहिं बिन राम ॥

भरतहि अवशि देहु युवराजू । कानन कौन रामकर काजू ॥

राम सरिस सुत कानन योगू । कहा कर्हिं सुनि तुम कहूँ लोगू ॥

जिमि भानु बिनु दिनु प्राण बिनु । तनु चन्द बिनु जिमि यामिनी ॥

तिमि अवध तुलसीदास प्रभु बिनु । समुझ भौं मनभामिनी ॥

जिस भावको एकनाथने “ त्या सांगातें जाईल लक्ष्मण । त्यासवें जाईल माझा प्राण ।” से व्यक्त किया है उसे तुलसीदासने “ लषन कि रहिहहिं धाम । नृप कि जिर्याहिं बिन राम ॥” से प्रकट किया है । फिर एकनाथने जिस भावको “ राज्यीं स्थापूं पाहसी भरत । न मागावी हे वरद कथा ॥ वना रघुनाथा न दवडावें ॥” से स्पष्ट किया है उसे तुलसीदासने “ भरतहि अवशि देहु युवराजू । कानन कौन राम कर काजू ॥” से व्यक्त किया है ।

जब कैंकेई किसी प्रकार नहीं मानती तो राजाकी आज्ञा पाकर सुमंत रामको लाकर दशरथके सामने खड़ा कर देता है। सुमंत और रामको सामने खड़ा देखकर दशरथका हृदय व्यथित हो उठा। यह विचार आते ही कि 'मैं रामको वनवास जानेकी आज्ञा दूँगा', राजा दशरथ शोकाकुल होकर मूर्च्छित हो गए। रामने दशरथको सांत्वना दिलाई। उस समय कैंकेईकी कठोरता, दशरथकी विह्वलता और रामकी शांतताका जो वर्णन कविने किया है उसे पढ़कर रसिक पाठक रोये बिना नहीं रहते।

पतिप्रेम

अब राम वनवासके लिए निकलनेवाले हैं। सीतासे मिलनेके लिए उसके मन्दिरमें जाते हैं। रामका यह निश्चय देखकर सीताका हृदय विदीर्ण हो गया ! शरीर कांपने लगा, नेत्रोंमें आँसू भर आए। हृदय धड़कने लगा और स्वेदविन्दु मोतीके समान उसके मुखपर चमकने लगे। “रामको राजगद्दी मिलनेवाली थी और मिला वनवास ! अब रामके बिना मुझे इस सुख-सम्पत्तिसे क्या प्रयोजन ?” ऐसा विचार मनमें आते ही सीता कहने लगी कि “मैं आपके सुख-दुःखकी संगिनी हूँ; इसलिए मैं भी आपके साथ चलूँगी।” ऐसा आग्रह करके सीताने रामके पैर पकड़ लिए और पृथ्वीपर लोट गई। रामने सीताको उठा पेटसे लगाकर बहुत समझाया। वनके व्याघ्र, सिंह इत्यादि हिंसक पशुओंका भय दिखाया। सर्दी, गर्मी और वनके कंटकाकीर्ण मार्गका हाल बताया। वृक्षोंके नीचे सोने—भूखे-प्यासे रहने—का डर बताया। यह भी कहा कि “तुम-जैसी सुकुमार और सुन्दर स्त्रियाँ वनके योग्य नहीं हैं।” परन्तु सीताने उन सबकी परवाह न की और वह व्याकुल होकर कहने लगी :—

“हे रघुकुल-तिलक ! आपके साथ रहनेसे कंटकाकीर्ण मार्ग मेरे लिए निष्कण्टक होगा। विष अमृततुल्य होगा। आपके साथ बनमें रहनेसे मुझे परम सुख होगा। मैं उसे वैकुण्ठ और कैलासके समान समझूँगी। आपके बिना संसार मेरे लिए दुःखका भार है।”

जवळी असतां रघुटिलक । कंटक होती निष्कण्टक ।

विष तें होय पीयूष । परम सुख वनवासीं ॥

तुज सांगतें वनवास । तो मज वैकुण्ठ कैलास
तुजवेगळा संसार वोस । दुःख असे समज तेव्हां

तुलसीदासने इस अवसरपर सीतासे ये शब्द कहलवाये हैं:—

“हे स्वामी ! आपके साथ पर्णकुटीमें वनका वास मेरे लिए वैकुण्ठके समान होगा । वन, नगरके तुल्य होगा । पक्षी और मृग कुटुम्बियोंके सदृश और बलकल वस्त्र रेशमी वस्त्रके समान होंगे । हे प्राणनाथ ! आपके बिना वैकुण्ठ भी नरकके समान होगा ।”

खग मृग परिजन नगर वन, बलकल विमल दुकूल ।
नाथ साथ सुर-सदन-सम, पर्ण-साल सुख-मूल ॥
प्राणनाथ करुणायतन, सुन्दर सुखद सुजान ।
तुम बिनु रघुकुल-कुमुद-विधु, सुरपुर नरकसमान ॥

जिस भावको एकनाथने “तुज सांगतें वनवास । तो मज वैकुण्ठ कैलास ।” से व्यक्त किया है । उसे तुलसीदासने “नाथ साथ सुख सदन-सम, पर्णसाल सुखमूल ।” द्वारा स्पष्ट किया है ।

इसके उपरान्त सीता कहती है कि “स्त्रीका जीवन-धन पति है । वह स्त्रीका भूषण है । उसके बिना स्त्री अति दुःखी रहती है । पति स्त्रीका दूसरा स्वरूप ही है । वह स्त्रीकी परम शान्ति है । पतिके बिना स्त्रीकी दुर्दशा होती है । पति स्त्रीकी शोभा और प्रेमका धनी होता है । बिना पतिके स्त्री अत्यन्त दुःखी हो जाती है । आप तो मेरे प्राणनाथ हैं । आपके बिना मैं जीवित नहीं रह सकती । मेरे परमात्मा रामचन्द्र हैं, जो मेरे हृदयमें निवास करते हैं । जब आप वनको प्रयाण करेंगे तो मेरे प्राण भी आपके साथ जाएंगे । यदि आप मुझे यहाँ छोड़ देंगे तो मैं निश्चय ही जीवित न रहूँगी ।” ऐसा कहकर सीताने रामके दोनों वरण पकड़ लिए और उसकी आँखोंसे प्रेमके आँसू टपकने लगे जिनसे श्रीरामके पैर धुल गए । इससे रामचन्द्रजी संतुष्ट हुए ।

पति प्रियेचें निज जीवन । पति प्रियेचें निज निधान ॥

पति प्रियेचें निज भूषण । तेणेंवीण ते अति दीन ॥

पति प्रियेची निज मूर्ती । पति प्रियेची निज आत्मगती ॥
 पति प्रियेची परम शांती । होय उपपत्ती त्यावीण ॥
 पति प्रियेचें निज शोभन । पति प्रियेचें गती गमन ॥
 पति प्रियेचें प्रेमधन । तेणेंवीण ते अति दीन ॥
 तूं तंव माझा प्राणनाथ । तुजवेगळा मज प्राणान्त ॥
 माझा परमात्मा रघुनाथ । हृदयस्थ अवधारी ॥
 जेव्हांचि तुझें वन-प्रयाण । तुजसवें येती माझे प्राण ॥
 मागें राहवितां जाण । अचुक मरण मज रामा ॥
 म्हणोनि धरिले दोन्ही चरण । गर्हिवरें गळताती नयन ॥
 जालें पति-पाद-प्रक्षालन । श्रीराम पूर्ण तुष्टला ॥

तुलसीदासने इसी भावको यों दिखाया है कि 'पतिके बिना सब—स्नेह, शरीर, राजवैभव इत्यादि—शोकके समान हैं। यह विरहाग्नि सूर्यसे भी अधिक तप्त करती है। संसारके भोग पतिविहीन स्त्रीको रोगीकी भाँति अरुचिकर प्रतीत होते हैं और आभूषण भार मालूम होते हैं। संसार नरकके समान है जहाँ पापियोंको तरह-तरहके दण्ड दिए जाते हैं। बिना पतिके स्त्रीकी गति वैसी ही है जैसे कि बिना जलवाली नदीकी और प्राणहीन शरीरकी।' सीता कहती है कि शरद "ऋतुके पूर्ण चन्द्रसमान आपके मुखको देखकर मुझे वनमें भी तुम्हारे साथ रहनेमें सब सुख होगा।"

जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते । पिय बिनु तियहि तरणिते ताते ॥
 तनु धन धाम धरणि पुर राजू । पतिविहीन सब शोक समाजू ॥
 भोग रोगसम भूषण भारू । यम-यातना-सरिस संसारू ॥
 प्राणनाथ तुम बिनु जग माहीं । मो कहं सुखद कतहुँ कीउ नाहीं ॥
 जिय बिनु देह नदी बिनु बारी । तैसहि नाथ पुरुष बिनु नारी ॥
 नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे । शरद विमल-बिधु-बदन निहारे ॥

एकनाथ और तुलसीदासने पतिप्रेमका कैसा सुन्दर चित्रण किया है ! एकनाथने जिस भावको "मागें राहवितां जाण । अचुक मरण मज

रामा । ” से प्रकट किया है उसे तुलसीदासने “ राखिय अवध जो अवधि लग रहत जानिए प्राण । ” से दर्शित किया है । यह है सच्चा पतिव्रत प्रेम । पतिके जीवनपर स्त्रीका सम्पूर्ण सौभाग्य अवलंबित है, जिसकी सेवाही स्त्रीका एकमात्र कर्तव्य है । पति ही जिसके लिए तीर्थयात्रा व मोक्ष-साधन है, ऐसे ईश्वरतुल्य पतिके प्रति साध्वी व सदाचरणी स्त्रीकी सदा पूज्यबुद्धि होती है । यह तथ्य सीताके उपरोक्त उद्गारोंसे कविने अच्छी तरह प्रगट किया है ।

शोक व करुणा

जब सुमन्त रथ लेकर वापस आया तो रथमें रामको न देखकर सब अयोध्यामें कोलाहल मच गया । राजमहल शोकसागरमें डूब गया । पुत्रविरहमें राजा दशरथकी शोकाग्नि प्रज्वलित हो गई । राजा दशरथ बार-बार मूर्च्छित हो जाते हैं । रनिवासमें कौशल्या और सुमित्रा सिरको पीटती और रोती-चिल्लाती हैं । सारे नगरमें घर-घर रोना-पीटना चालू है । हर जगह उदासी छा गई है । जहाँ देखो हाहाकार मचा हुआ है । एकनाथने इसका वर्णन यों किया है :—

“अयोध्यापुरीके नर-नारी सुमंतके वापिस आनेपर दुःखी हैं । वे कहते हैं—‘ यह सुमंत नहीं, कुमन्त है ! यह काले मुखवाला रामचन्द्रजीको वनमें छोड़कर यहाँ आया है । इसका मुँह जल जाय । नगरको दुःख देनेके लिए आया है ! ’ सब लोग सुमन्तकी निन्दा कर रहे हैं; परन्तु वह बिचारा गर्दन नीचे डाले खड़ा है । वह मन-ही-मन सोचता है कि मैं भाग्यहीन रामके पाससे क्यों वापिस आया ? दुःखसे वह अपने मस्तकको पीटता है और अपनेको निर्लज्ज समझकर धिक्कारता है ! ”

नर-नारी आक्रंदत । सुमंत नव्हे हा कुमंत ।

वना सांडोनि रघुनाथ । आला येथे काळ-तोंडा ॥

जळो याचें काळ मुख । आला नगरा द्यावया दुःख ।

निन्दितो सकळ लोक सन्मुख । अधोमुख सुमंतु ॥

रामापासून उफराटा । मी कां आलों करंटा ।

दुःखें पिटितु लल्लाटा । धिक् अदृष्टा निर्लज्जा ॥

तुलसीदासने सुमन्तकी दशाका यों वर्णन किया है :—

“ दुखमें व्याकुल सुमन्त मोचमें मग्न हैं। ‘श्रीरामके बिना मेरा जीवन धिक्कार है ! अन्तमें यह नीच शरीर तो नाशवान है। यदि श्रीरामके वियोगमें मेरा शरीर छूट जाता तो यश प्राप्त तो होता। ”

वह हाथ मीजकर ऐसे पछता रहा है मानो किसी कृपणने अपना धन खो दिया है। नेत्रोंमें आँसू भरे हैं जिनके कारण दृष्टि भी कम हो गई है। कानोंसे सुनाई नहीं देता और व्याकुलताके कारण बुद्धिभ्रम हो गया है। ओठ सूख गए हैं। मुँह लटक गया है। श्रीरामके आनेकी अवधिरूपी किवाड़ने प्राणोंको शरीरसे बाहर नहीं जाने दिया। सुमन्तकी ऐसी दशा है मानो उसने अपने माता-पिताका वध किया है। ”

सोच सुमन्त विकल दुःख दीना । धिक् जीवन रघुवीर-विहीना ॥
रहहि न अन्तहु अधम शरीरू । यश न लहेउ बिछुरत रघुवीरू ॥
मोजि हाथ सिर धुनि पछिताई । मनहु कृपण धनराशि गँवाई ॥
लोचन सजल दृष्टि भइ थोरी । सुनै न श्रवण विकल मति भोरी ॥
सूखो अधर लागि मुँह लाटी । जिय न जाय उर अवधि कपाटी ॥
विवरण भयउ न जाइ निहारी । मारेसि मनहुं पिता महतारी ॥

एकनाथने जिस भावको “ रामापासून उफराटा । मी कां आलों करण्टा । ” से व्यक्त किया है उसे तुलसीदासने “ सोच सुमन्त विकल दुःख दीना । धिक् जीवन रघुवीर-विहीना । ” से प्रकट किया है ।

प्रजाको इस तरह दुःखी जान और सुमन्तके इस दुःखद समाचारको सुनकर राजा दशरथ अपना वक्षःस्थल पीटकर कहते हैं :—

“ लक्ष्मणसे बढ़कर कोई संसारमें धन्य नहीं जो राजमुख, प्रिय पत्नी और मातापिताको छोड़कर रघुनाथजीके साथ वनको गया है । धन्य हैं सती सीता, धन्य है लक्ष्मण-जैसा भाई और धन्य है श्री रघुनाथ-जीका जन्म जिन्होंने पिताकी आज्ञाका पालन किया । ”

सांडोनि राजभोग निज कांता । सांडोनिया मातापिता ॥

वन सेऊ गेला संगें रघुनाथा । त्या लक्ष्मणापरता धन्य नाही ॥

धन्य ते सती सीता । धन्य तो लक्ष्मण भ्राता ॥

धन्य जन्म श्रीरघुनाथा । पितृवचना प्रतिपाठों ॥

तुलसीदासने इसी भावके शब्दोंको कौशल्याके मुखसे कहलवाया है :—
“कौशल्या कहती हैं कि ‘श्रीरामचन्द्रको बन जाते सुनकर सीता उनके साथ चल दी। यद्यपि सीताको बहुत समझाया गया परन्तु उसे श्रीरामके चरणोंमें इतना प्रेम था कि वह न रुकी। यह सुनकर लक्ष्मण भी उनके साथ चल दिए। श्रीरामचन्द्रके यत्न करनेपर भी वे रुके नहीं। यह सब मैंने अपनी आँखोंसे देखा। फिर भी मेरे प्राण न निकले। रामके समान पुत्र और मेरी-सी माता! धिक्कार है मेरे प्रेमको!! जीने और मरनेका मर्म राजा दशरथने अच्छी तरह समझा। मेरा हृदय तो सौ वज्रोंके समान कठोर है।”

चले विपिन सुनि सिय-संग लागी । रही न रामचरण अनुरागी ॥

सुनतहि लषन चले लगि साथ । रहे न यत्न किए रघुनाथा ॥

यह सब भा इन आँखिन आगें । तउ न तजा तनु जीव अभागे ॥

मोहि न लाज निज नेह निहारी । राम-सरिस सुत मैं महतारी ॥

जियै मरै भल भूपति जाना । मोर हृदय शत कुलिश-समाना ॥

श्रीराम, सीता और लक्ष्मणका स्मरण कर राजा दशरथ कहते हैं कि ‘उनको बनमें अन्न खानेको कहाँ मिला होगा?’ यह सोचकर उनके नेत्रोंसे आँसूकी धारा बहने लगी और राजा बार-बार मूर्च्छित होने लगा। जो दशा मछलीकी वंसीमें फँस जानेके बाद होती है वही हालत दशरथकी थी। जैसे मछली तड़पती है उसी प्रकार दशरथ रामके मोह-फाँसमें तड़प रहा है; न प्राण ही निकलते हैं और न जीवित ही हैं। “हे सुमन्त! मैं क्या करूँ? श्रीरामके दर्शन न मिलनेसे मेरी ऐसी अवस्था हो गई है कि मेरे प्राण निकलनेमें कोई सन्देह नहीं है। श्रीरामके बन जाते ही उनके साथ-साथ मेरी गति, मति चित्तवृत्ति सब चली गई है। अब मेरे प्राण भी रामके पास जाना चाहते हैं। हे सुमन्त! सच समझ, रामके रूपमें मेरा मन लगा है। मेरी आँखें उनके रूपमें फँसी हैं और अब प्राण भी उनके साथ जाएंगे!”

त्यासी कोठें मिळालें अन्न । तिहीं कोठें केलें भोजन ॥
 अभ्रधारा गळती नयन । मूर्च्छा पुनः पुनः ॥
 गळीं अडकला जेवि मासा । तो जीवें न मरे चरफडी जैसा ॥
 दशरथ तैसी दशा । मोह-फांसीं विलपतु ॥
 काय करूं रे सुमन्ता । श्रीरामासी न देखतां ॥
 जीव जाईल तत्त्वतां । मज अशी अवस्था होतसे ॥
 श्रीरामासवें गेली गति । श्रीरामासवें गेली चित्तवृत्ति ।
 श्रीरामासवें गेली मति । प्राण रामाप्रति जाऊं पाहे ॥
 रामरूपीं जडले नयन । रामरूपीं जडलें मन ॥
 रामापाशीं जातील प्राण । सत्य जाण सुमन्ता ॥

तुलसीदासने इस आशयका वर्णन यों किया है :—

“सुमन्तके वचन सुनकर राजा दशरथ हृदयकी वियोग-वेदनाके कारण पृथ्वीपर गिर पड़े । उनका मन रामके मोहमें ऐसा तड़फड़ाता है जैसा कि मांजा खाकर मछली । राजा दशरथके प्राण कण्ठतक आ गए और वे मणिविहीन सर्पकी भाँति व्याकुल हो उठे । उनकी सब इन्द्रियाँ इस प्रकार अत्यन्त व्याकुल हो उठीं, जिस प्रकार जलहीन सरोवरमें कमल-बन । धैर्य धारण करके राजा दशरथ उठ बैठे और पूछने लगे—हे सुमन्त ! कृपालु रामचन्द्रजी कहाँ हैं ? स्नेहपात्र लक्ष्मण व रामचन्द्र कहाँ हैं ? मेरी बहू जानकीजी कहाँ हैं ?”

सुनत सुमन्त वचन नर नाहू । परेऊधरणि उरु वारुण दाहू ॥
 तडफत विषम मोह मन मापा । मांजा मनहु मीन कहू व्यापा ॥
 प्राण कण्ठगत भयउ भुआल् । मणिविहीन जिमि व्याकुल ब्यालू ॥
 इन्द्रिय सकल विकल भइ भारी । जनु सर सरसिज-वन बिनुवारी ॥
 धरि धीरज उठि बंठु भुआलू । कहू सुमन्त कहू राम कृपालू ॥
 कहू लक्ष्मण कहू राम सनेही । कहू प्रिय-पुत्र-वधू वंदेही ॥

एकनाथ और तुलसीदासने पुत्र-वियोगका कैसा हृदयवेधक वर्णन किया है ! एकनाथने जिस भावको “गळीं अडकला जेवि मासा । तो जीवें न

मरे चरफडी जैसा ॥ "से व्यक्त किया है उसे तुलसीने "तड़फत विषम मोह मन मापा । मांजा मनहु मीन कहँ व्यापा ॥"से स्पष्ट किया है ।

श्रीरामके रूप व गुणकी याद करते हुए राजा दशरथको ऐसी मूर्च्छा आई कि फिर होश न आया । ' राम राम ' कहते हुए उन्होंने स्वयं अपने प्राण छोड़ दिए । राजा दशरथने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको रामार्पण कर दिया ।

श्रीरामाचे रूपगुण । आठवितां मूर्च्छा आली पूर्ण ॥

मूर्च्छेसर्वें गेला प्राण । रामस्मरण करितची ॥

' राम राम ' करितां स्मरण । स्वयें दशरथें सोडिला प्राण ॥

मन बुद्धि इन्द्रिय हे जाण । रामार्पण तेणें केलीं ॥

तुलसीदासने इस भावका वर्णन यों किया है :—

" रामके वियोगमें दुःखी राजा दशरथ प्रलाप करते हैं कि ' हे प्राणप्रिय रघुनाथजी ! तुम्हारे बिना, जीते बहुत दिन व्यतीत हो गए । हा जानकी ! हा लक्ष्मण ! हा राम ! तुम मेरे चित्तरूपी चातकके लिए मेघोंके समान कल्याण करनेवाले हो । ' राजा दशरथने ' राम राम ' कहकर श्रीरघुनाथजीके वियोग-दुःखमें अपने प्राण छोड़ दिए और वे वैकुण्ठको सिधारे । "

हा रघुनन्दन प्राण पिरीते । तुम बिन जियत बहुत दिन बीते ॥

हा जानकी ! लषन हा ! रघुवर । हापितु हित चित चातक जलधर ॥

' राम राम ' कहि राम, ' राम राम ' कहि राम ॥

तनु परिहरि रघुवर विरह राव गयो सुरधाम ॥

एकनाथके " ' राम राम ' करितां स्मरण । स्वयें दशरथें सोडिला प्राण । " और तुलसीके " राम राम कहि राम, राम राम कहि राम । तनु परिहरि-रघुवर विरह राव गयो सुरधाम ॥ " में कितना सादृश्य है !

शौर्य व बीभत्स

चित्रकूटको छोड़कर श्रीरामचन्द्रजी दण्डकारण्यमें पधारे जहाँ उन्होंने पञ्चवटीमें आश्रम बनाया । शूर्पनखा इस अरण्यमें आकर श्रीरामसे विवाह

करनेके लिए अपनी इच्छा प्रकट करती है । इसका परिणाम यह होता है कि लक्ष्मण उसके नाक-कान काट लेते हैं । इसका बदला लेनेके लिए वह खर-दूषणको बुलाकर लाती है । राक्षस-सेनाने श्रीरामचन्द्रजीको घेर लिया है । खर रामचन्द्रजीसे कहता है कि 'सीताको मेरे अर्पण कर दो; तो मैं तुमसे युद्ध न करूँगा ।' इसपर श्रीरामचन्द्रजी खर राक्षसको धिक्कार कर क्रोधसे कहते हैं :—

“तुम्हारी शक्ति अब तुम्हारे पाससे चली गई है । तू वृथा गदा चलानेका साहस कर रहा है ! तुझ पापात्मा पापमूर्तिको मैं गदासहित पृथ्वीपर पटक दूँगा । तूने बहुतसे ब्राह्मण खाये हैं । ब्रह्महत्याका विकट दोष होता है । इसका यही प्रायश्चित्त है कि तुम मेरे बाणसे मारे जाओगे । तुम्हारे साथ ये नकटी शूर्पनखा हैं ! तुम्हें यश कैसे मिल सकता है ! यह निश्चित है कि नकटीने तुम्हें नष्ट कर दिया है और तुम्हें यह दिखाई नहीं देता है । तुम्हारा नाम 'खर' है । गधेसदृश तुम्हारा मुँह है । तुम गधेके समान शस्त्रोंका बोझ ढोते हो । तुम्हारा कोई कार्य बुद्धिसंगत नहीं । तू बड़ा मूर्ख है ।

तुजपासोनि गेली शक्ति । वृथा बाळगसी गदा-गती ।
गदेसहित पाडीन क्षितीं । तूं पापमूर्ति पापात्मा ॥ १४ ॥
ब्राह्मण भक्षिले बहुत । ब्रह्महत्यांचा दोष अब्भुत ।
बाण-धारा प्रायश्चित्त । मी निश्चित तुज देईन ॥ १५ ॥
ते नकटी तुम्हां सांगातें । तुम्हांसी यश कैचें येथें ।
नकटियें निर्वाळिलें निश्चितें । हे खरातें लक्षेना ॥ १६ ॥
नावें खर रूपें खर । शस्त्रभार वाहे खर ।
नकळे बुद्धीचा विचार । ऐसा मूर्ख थोर तूं होसी ॥

तुलसीदासने इस स्थलका वर्णन यों किया है :—

मन्त्रीको बुलाकर खर-दूषण बोले कि रामचन्द्रजीसे जाकर कह दो कि वह 'अपनी स्त्रीको हमको देकर दोनों भाई जीते-जागते अपने घरको चले जायें ।'

जब मन्त्रीने जाकर रामचन्द्रजीसे कहा, तो रामचन्द्रजीने कहा :—

“ हम क्षत्रिय हैं और तुम-जैसे दुष्टरूपी मृगोंको शिकारके लिए दूढ़तेही फिरते हैं। यदि हमारा शत्रु बलवान हो तो उसे देखकर डरते नहीं और एक बार तो कालसेभी लड़ जाते हैं। यद्यपि हम मनुष्य हैं तो भी राक्षस-कुलके नाशक हैं और मुनियोंके पालक हैं। हम ऐसे बालक हैं। यदि तुममें लड़नेका बल न हो तो चुपचाप घरको लौट जाओ। हम उस शत्रुको नहीं मारते जो युद्ध-क्षेत्रमें पीठ दिखाता है। ”

हम क्षत्रिय मृगया वनकरहीं। तुमसे खल मृग खोजत फिरहीं।
रिपु बलवन्त देख नहीं डरहीं। एक बार कालहु सन लरहीं ॥
यद्यपि मनुज दनुज-कुल-घातक। मुनि-पालक खल-घातक बालक ॥
जो न होइ बल घर फिरि जाह। समरविमुख में हतों न काह ॥

एकनाथने शकुन व अपशकुनके लौकिक आचरणको भी यहाँ दिखाया है। मार्गमें यदि कोई नकटा मिल जाय तो जनसाधारण इसे अपशकुन समझते हैं और कार्यसिद्धिमें शंका करने लगते हैं। कविने प्राचीन परिपाटीके अनुसार ब्रह्महत्याको एक महान् पातक माना है, जिसका प्रायश्चित्त प्राणदण्डही है। ‘खर’ शब्दका कैसा विनोदी विवेचन किया गया है! इन ओवियोंमें वीररसका एक नमूना भी उपस्थित किया है।

तुलसीदासने भी नाक-कान कटे हुए व्यक्तिके दर्शनको अपशकुन माना है जैसा कि उनकी इस भावकी चौपाईसे प्रकट होता है :—

“ वे नाक-कान-रहित अशुभ रूप शूर्पनखाको आगे कर चले। रास्तेमें उन्हें असंख्य भयंकर अपशकुन हुए; पर वे कालके गालमें जा रहे थे इस लिए उन राक्षसोंने अपशकुनकी परवाह नहीं की। ”

शूर्पनखहि आगे करि लीनी। अशुभरूप श्रुति-नासा-हीनी ॥
अशकुन अमित होहि भयकारी। गर्निह न मृत्यु विवश भयझारी ॥

श्रीरामचन्द्रके इन वचनोंको सुनकर खरने उत्तर दिया :—

“ श्रीरामचन्द्रजी! बहुत अट-संट मत बको। वीरोके लिए बड़बड़ाना शोभा नहीं देता। आओ, देखें रणमें किसकी विजय होती है! हे श्रीरघुवीर !

तुमने बहुत-से वीर राक्षस मारे हैं। बस, अब बहुत हो चुका। अब मैं तुम्हारे रक्तसे मरे हुए राक्षसोंका तर्पण करूँगा। क्योंकि तुम्हारे रुधिरके तर्पणसे राक्षसगण तृप्त होंगे। मैंने यह सत्य प्रतिज्ञा की है कि गदाके प्रहारसे तुम्हारे प्राण लूँगा। हे श्रीरामचन्द्रजी ! सावधान ! एकही प्रहारसे तुम्हारा काम पूरा कर दूँगा ! ” वह गदाकी चारों तरफ़ घुमा रहा था। दाँत किरकिरा रहा था। उसके नेत्रोंसे धुँवा निकल रहा था और वह क्रोधसे थरथर काँप रहा था। वह श्रीरामचन्द्रके कण्ठका रुधिरपान करनेके लिए दौड़कर आगे बढ़ा।

कितो जल्पसी सैरावैरा । बोलों नको श्रीरामचन्द्रा ।

बहु बडबड न साजे वीरा । रणनिर्धारा पाहे पां ॥ २२ ॥

राहे साहे श्रीरघुवीरा । तुंवा मारिल्या बहुत धुरा ।

तुझ्या घेवोनियां रुधिरा । मारिल्या धुरा तर्पीन ॥ २३ ॥

तुझिया रुधिराचे तर्पणें । तृप्त होतील राक्षसगण ।

गदाघायें घेईन प्राण । सत्य सम्पूर्ण पण माझा ॥ २४ ॥

सावध पाहें श्रीरामचन्द्रा । येकेचि घायें करीन पुरा ।

दांत खातसे करकरां । गदा गरगरां भोंवडी ॥ २५ ॥

धूम्र निघे नेत्रद्वारां । रागें कांपतु थरथरां ।

डसों धांवे श्रीरामचन्द्रा । कण्ठीच्या रुधिरा प्राशावया ॥ २६ ॥

—अरण्यकाण्ड अ० ११

खरने जो रामचन्द्रजीको उत्तर दिया है उसमें भी श्रीरामसे, ‘रामचन्द्रजी’ संबोधित किया है। एक राक्षससे अपने शत्रु रामके प्रति ‘श्रीराम’ से संबोधित करानेमें ‘नाथ’ एक राक्षस-द्वारा भी इस मर्यादाको उल्लंघन कराना पसंद नहीं करते हैं। “दाँत खातसे करकरां। धूम्र निघे नेत्र द्वारां। रागें कांपतु थरथरां।” द्वारा” क्रोधके चिह्नोंका कैसा उपयुक्त वर्णन है !

तुलसी-रामायणमें दूत श्रीरामचन्द्रजीके उत्तरको लाते हैं कि शत्रुपर दया करना बड़ी भीरुता है। यह सुनकर खर-दूषणके हृदयमें बड़ी जलन पैदा हुई।

खर-दूषणने हृदयमें जल-भुनकर कहा :—“हे बिकट राक्षसवीरो ! धनुष-बाण, तोमर, शक्ति, त्रिशूल, तलवार, बर्छी और फरसोंको लो तथा दौड़कर दोनों भाइयोंको पकड़ लो ।” यह सुन श्रीरामचन्द्रजीने धनुषकी टंकोर की जिससे बड़ा भारी शब्द हुआ । उसे सुन राक्षस घबड़ा गए और बहिरे हो गए और किसीको ज्ञान न रहा ।

उर दहेउ कहेउ कि धरहु बिकट भट रजनीचरा ।

शर-चाप तोमर शक्ति शूल कृपाण परिघ परशूधरा ॥

प्रभुकीन धनु-टंकोर प्रथम कठोर घोर भयो महा ।

भये बधिर व्याकुल यातुधान न ज्ञानतेहि अवसर रहा ॥

एकनाथने श्रीरामकी युद्ध-कुशलताका वर्णन भी सुन्दर किया है । “श्रीराम कभी तरकससे बाण निकालते हैं । कभी प्रत्यञ्चा चढ़ाते हैं । कभी बाण छोड़ते हैं । जिनसे पीड़ित हो राक्षस रण-क्षेत्रमें चारों ओर भागने लगते हैं । श्रीरामने दूषणके रथको व सारथीको छिन्न कर दिया । अब दूषण क्रोध कर हाथमें गदा ले श्रीरामकी तरफ दौड़ा कि उनके अभिमानको प्राण लेकर नष्ट करे । श्रीरामने कहा कि ‘तुम्हें लाज नहीं आती कि तुम्हारा नाम ‘दूषण’ है । दूषण ! तुम खरके भूषण हो । तुम दोनोंके मुख निदनीय हैं । तुम्हारा न केवल नाम ही दूषण है वरन् धर्म, कर्म सब दुष्ट हैं । दूषणका बल भी दूषित होता है । तुममें वीर्य कैसा ?’ दूषण हाथमें गदा लेकर रामकी ओर इस प्रकार दौड़ा जैसे कोई पतंगा दीपककी ओर दौड़ता है ।”

केव्हां भात्याचा बाण काढी । केव्हां जोडी केव्हां सोडी ।

अलक्ष लक्षाची परवडी । रणीं कुरवंडी पाडिती ॥ ६९ ॥

छेवोनियां रथ-सारथी । रणीं दूषण केला पदाति ।

कोपें गदा घेवोनि हातीं । श्रीरामाप्रती धाविघ्नला ॥ ७५ ॥

दूषणासी करितां रण । रणीं रामाचा घेईन प्राण ।

सांडवीन वाढिवेचा अभिमान । गदा घेवोन चालिला ॥ ७७ ॥

श्रीराम म्हणे नांव दूषण । सांगतां न लाजसी आपण ।

दूषण खरासी भूषण । निघ वदन दोघांचें ॥ ७८ ॥

धमें दूषण कमें दूषण । नामें दूषण कामें दूषण ।
 दूषणासी बल दूषण । आंगवण तुज कंची ॥ ७९ ॥
 दूषण म्हणे जल्पसी किती । गदा घेबोनियां हातीं ।
 पतंग धांवे दीपाप्रति । तैसे गती धांवला ॥ ८० ॥

एकनाथने इन ओवियोंमें श्रीरामके युद्ध-कौशल्यका वर्णन किया है और साथ-ही-साथ दूषणके नामकी सार्थकताका विवेचन किया है। 'दूषण खरासी भूषण' यहाँ 'खर' शब्दद्वारा श्लेषालंकारकी सुन्दर अभिव्यञ्जना हुई है। 'पतंग धांवे दीपाप्रति।' इस उपमाके द्वारा श्रीरामके बल-वैभव और दूषणकी मूर्खता व निस्तेजताका वर्णन किया है।

तुलसीदासने इस स्थलपर श्रीरामके युद्ध-कौशल्यका जो वर्णन किया है उसे भी देखिए।

“श्रीरामजीके कराल बाण ऐसे चले कि मानो बहुत-से सर्प फुफकारते चले आर रहे हों। जब श्रीरामजी क्रुद्ध हुए तब उन्होंने बड़े तीक्ष्ण बाण चलाए। तीक्ष्ण बाणों और खरकी ओर देखकर राक्षस-सैनिक लौटे। उस समय किसीको किसीकी संभाल न रही और वे 'भइय्या ! बप्पा !' पुकारने लगे।”

..

“शत्रूको क्रुद्ध देख श्रीरामजीने फिर धनुषपर बाण रखा। फिर तो उनके बाणोंकी मारसे बिकट राक्षस कटने लगे और उनकी छाती, भुजा, सिर, हाथ-पैर आदि कट कट कर इधर-उधर गिरने लगे। बाणोंकी मारसे वे चिक्कारने लगे और पर्वतके समान उनके धड़ पृथ्वीपर गिरने लगे। एक-एक योद्धाके शरीरके कट कर सौ सौ टुकड़े हो गए; परन्तु फिर भी माया करके वे उठ खड़े होने लगे। आकाशमें अनेक भुजा और मुण्ड उड़ रहे हैं और बिना मुण्डके रुण्ड दौड़ रहे हैं। कंक, काग और शृगाल अति भयंकरतासे कटकटाते हैं।”

तब चले बाण कराल । फुंकरत जनु बहु व्याल ॥
 कोपेउ समर श्रीराम । चले विशिख निशित निकाम ॥
 अबलोकि खरतर तीर । मुरिचले निशिचर वीर ॥
 यक एक कहं न संभार । कर तात मात पुकार ॥

..

छाँड़े विपुल नाराच । लगे कटन विकट पिशाच ॥
 उर शीश कर भुज-चरन । जहँ-तहँ लगे महिपरन ॥
 चिक्करत लागत बान । धरपरत कुधर-समान ॥
 भट कटत तनु शतखण्ड । पुनि उठत करि पाखण्ड ॥
 नभ उड़त बहु भुज-मुण्ड । बिनु मौलि धावत रुण्ड ॥
 खग कड़क कागशृगाल । कटकटीहँ कठिन कराल ॥

(अरण्यकाण्ड)

रामायण वीर-रस-प्रधान ग्रंथ है । इसलिए इस रसके बहुत-से उदाहरण दिए जा सकते हैं । वीररसके साथ-साथ स्थान-स्थानपर भयानक रसका भी परिपाक हुआ है । अरण्यकाण्डके नवें और दसवें अध्यायमें इन दोनों रसोंके काफी उदाहरण हैं । भयानक रसका एक उदाहरण नीचे दिया जाता है :—

“ एक राक्षस दूसरे राक्षससे कहता है कि ‘पहले राम-लक्ष्मण दोनोंका खून शूर्पनखाको पिलाओ, फिर मांस खिलाओ ।’ खरकी सेनामें चौदह हजार वीर राक्षस थे, जिनमें बारह योद्धा बड़े पराक्रमी व निडर हैं, जिनसे देव-दानव भयभीत हो जाते हैं और इन्द्र थरथर कांपता है, जिनके भयसे संसार पीड़ित है, जिनकी क्रोध-दृष्टिसे वीर डरके मारे सूख जाते हैं, जो अपने अस्त्रोंसे मांसको टांचते हैं और ओठोंसे रक्त पीते हैं, जिनके भयसे सब लोग कांपते हैं, जिनकी दाढ़ें व मुख बड़े विकराल हैं, जो भयके लिए भी भयानक हैं । वे ऐसे दिखाई देते हैं मानो तीनों लोकोंको निगल जायेंगे ।”

एक म्हणती शूर्पनखेसी । पाजूं दोघांच्या रुधिरासी ।
 मग भक्षावें मांसासी । ऐसा राक्षसीं विवाद् ॥ ३९ ॥
 चवदा सहस्र निशाचरां । माजीं निधडे वीर बारा ।
 ज्यांचा सुरासुरां दरारा । इन्द्र थरथरां ज्यां कांपे ॥ ३९ ॥
 जे भ्यासुरत्वे जग दाटित । क्रोधदृष्टि वीर आटित ।
 लोहेसि मांस जे घाटित । अवाळी चाटित रक्तपाना ॥ ८४ ॥
 हाकें कांपती लोकालोक । विक्राळ दाढा विकट मुख ।
 जे भयानकां भयानक । तिन्हीं लोक गिळूं पाहती ॥ ८५ ॥

तुलसीदासने इस स्थलपर बीभत्स-रसका यह उदाहरण दिया है : —

“ गीदड़ कटकटाते हैं और भूत, प्रेत-पिशाच अपना-अपना खप्पर सजाते हैं। वेताल वीरोंकी खोपड़ीपर ताल बजाते हैं और योगिनी नाचती हैं। श्रीरामचन्द्रजीके प्रचण्ड बाण भटोंकी छाती, भुजा और मस्तकोंको काट-काटकर इधर-उधर गिराते हैं। तिसपर भी वे उठ-उठकर लड़ते हैं और ‘ पकड़ो-पकड़ो ’ कहकर भयंकर कोलाहल करते हैं। आँतोंको लेकर गीध उड़ते हैं और उनके लटकते हुए छोरोंको पिशाच पकड़कर ऐसे दौड़ते हैं मानो संग्रामरूपी नगरके रहनेवाले बहुत-से बालक पतंग उड़ा रहे हैं । ”

.. .. .

“ राक्षसी सेनाके योद्धा बराबर पृथ्वीपर गिरते हैं और फिर उठ-उठ-कर लड़ते हैं; परन्तु मरते नहीं। वे अनंक प्रकारकी माया रचते हैं। चौदह हजार राक्षस एक ओर और अकेले श्रीरामजी दूसरी ओर हैं। यह देखकर देवता लोग डर रहे हैं । ”

कटकटहि जम्बुक भूत-प्रेत-पिशाच खप्पर साजहीं ।
वेताल वीर कपालताल बजार योगिनि नाचहीं ॥
रघुवीर-बाण प्रचण्ड खण्डहि भटनके उर-भुज-सिरा ।
जहँ-तहँ परहि उठि लरहि धरु धरु करहि सकल भयङ्करा ॥
अंत्रावली गहि उड़हि गृध्र पिशाच कर गहि धावहीं ।
संग्राम-पुरवासी मनहुँ बहु बाल गुड़ी उड़ावहीं ॥

.. .. .

महि परत उठि भट भिरत मरत न करत माया अति घनी ।
सुर डरत चौदह सहस निशिचर एक श्रीरघुकुल मनी ॥

एकनाथ और तुलसीदास दोनोंने राक्षसोंकी संख्या चौदह हजार बतलाई है। एकनाथने जहाँ ‘ चवदा सहस्र निशाचरां । ’ लिखा है वहाँ तुलसीदासने ‘ चौदह सहस निशिचर । ’ लिखा है। एकनाथने जिस भावको ‘ लोहेसि मांस जे घाटित । अवाळी चाटित रक्तपाना । ’ से व्यक्त किया है उसे तुलसीदासने ‘ अंत्रावली गहि उड़हि गृध्र पिशाच कर गहि धावही । ’ से प्रदर्शित किया है।

सीता-संताप-शमन

सीताकी खोज करते-करते हनुमानजी सूक्ष्म रूप धरके अशोक-वाटिकामें पहुँचे। वहाँ सीताको अतिदुःखित देखा। इतनेमें रात्रि हो गई। उस रात रावणको सीताका स्मरण आया और वह अस्वस्थ हो गया। रावण अब अपने महलमें न रह सका और सीतासे मिलनेके लिए अशोक-वाटिकाको चला आया। सीताके सामने आकर रावणने आत्मश्लाघा और राम-चन्द्रजीकी निन्दा की और सीताको वह अपनी रानी बननेके लिए कहने लगा। इसपर सीताजीने रावणको बुरी तरह फटकारा। रावणने क्रोधमें आकर सीताको मार डालनेके लिए तलवार उठाई। यह देखकर मंदोदरीने रावणका हाथ पकड़ लिया और सीताके प्राण बचाए। इस प्रसंगके बाद सीताको राक्षसियोंके सुपुर्द कर रावण चला गया। हनुमानजी वृक्षकी आड़में बैठे यह देखकर अतिदुःखी हुए। उन्होंने सीताके दुःखको शान्त करनेके लिए श्रीरामकी दी हुई अंगूठी नीचे डाल दी। अंगूठीको हाथमें लेकर सीताके मनमें जो भाव उत्पन्न हुए उनका वर्णन कविने बहुत मार्मिक किया है।

“ सीताको दुःखी देखकर हनुमानजीका मन द्रवीभूत हो उठा। उन्होंने सीताके दुःख-निवारणके लिए रामचन्द्रकी दी हुई अंगूठी नीचे डाल दी। अंगूठीपर श्रीराम-नाम अंकित था। अंगूठीको सीताजीने उठा लिया और उसे ध्यानसे देखने लगीं। मुद्रिकाको देखकर सीताने यह समझा कि स्वयं राम ही यकायक आ गए हैं। सीताजीने लज्जावश अपना अंचल खींचकर नीचा कर लिया और नीचे देखने लगीं। उनका मुख प्रसन्न हो गया। और उनके रोम-रोम-से आनन्द प्रस्फुटित होने लगा। जानकीजीने झुककर मुद्रिकाको नमस्कार किया और आनन्दसे आलिंगन कर चूम लिया। सीता मुद्रिकासे कहने लगीं कि ‘तू मेरी प्यारी सखी है। समुद्र और पर्वतोंको पार करनेमें तू थक गई होगी। पलंगपर आराम करो।’

देखोनि अनुतापिनी सीता । कृपा उपजली हनुमन्ता ।

श्रीराम-मुद्रिका होय टाकिता । दुःखावस्था शमावया ॥ १ ॥

मुद्रिका शोभे करीं । श्रीराम-नाम मुद्रिकेवरी ।

श्रीराम-मुद्रिकेस बाह्यान्तरि । सीता सुन्दरी स्वयं देखे ॥ २ ॥

देखतांचि चमत्कार जाहला । स्वयें श्रीरामचि आला ।
 ऐसा सीतेसी भाव गमला । सरसावला अंचळू ॥ ३ ॥
 श्रीराम आला एकाएकीं । लाजें जाहली अधोमुखी ।
 सर्वांगें हर्षली जानकी । सुखोन्मुखीं डुल्लत ॥ ४ ॥
 मुद्रिका वंदिली निढळीं । मग आलिंगली हृदयकमळीं ।
 स्वानंदें चुंबी जनकबाळी । सुखें वेल्हाळी ! आलीसी ॥ ५ ॥
 तूं माझी सखी श्रीराम-मुद्रा । धालूं सेजे, करीं निद्रा ।
 श्रमलीस उतरतां समुद्रा । आणि गिरिवरां उल्लंघितां ॥ ६ ॥

इस स्थलका वर्णन तुलसीदासने इस प्रकार किया है :—

“ सीताजीको परम विरहाकुल देख, हनुमानजीको एक-एक क्षण एक कल्पके समान बीतने लगा । तब अन्तमें विचार पक्का कर हनुमानजीने श्रीरामजीकी दी हुई अंगूठी डाली । मानो अशोक-वृक्षने अंगार दिया और सीताजीने प्रसन्न मनसे उठकर उसे उठा लिया ।

सीताजीने उस सुन्दर अंगूठीको देखा । उसपर श्रीराम-नाम खुदा था । वे चकित हुई । अंगूठी पहचानकर पहिले उन्हें हर्ष हुआ । फिर दुःखके मारे मनमें व्याकुल हुई । श्रीरामजी तो अजेय हैं । उन्हें कौन जीत सकता है और मायासे यह बनाई नहीं जा सकती ।”

देखि परम विरहाकुल सीता । सो क्षण कपिहि कल्पसम बीता ॥

कपि करि हृदय विचार, दीन्ह मुद्रिका डारि तब ॥

जनु अशोक अंगार, लीन्ह हरषि उठि कर गहेउ ॥

तब देखी मुद्रिका मनोहर । राम-नाम अंकित अति सुंदर ॥

चकित-चितै मुद्रिका पहिचानी । हर्ष-विषाद हृदय अकुलानी ॥

जीति को सकै अजय रघुराई । मायाते अस रची न जाई ॥

जो भाव एकनाथने ‘देखोनि अनुतापिनी सीता । कृपा उपजली हनुमंता ।’ से प्रकट किया है उसे तुलसीदासने ‘देखि परम विरहाकुल सीता । सो क्षण कपिहि कल्पसम बीता ।’ से स्पष्ट किया है । इसी प्रकार एकनाथकी दूसरी ओवी और तुलसीदासके सोरठा और उसके नीचेकी चौपाईमें कितना साम्य है ! एकनाथने सीताकी आश्चर्याविस्थाको “श्रीराम मुद्रिकेस बाह्यांतरि । सीता सुन्दरी स्वयें देखे ।” से प्रगट किया

है। तुलसीदासने इसे “चकित-चितै मुद्रिका पहिचानी।” से व्यक्त किया है। इस आश्चर्यके साथ विषाद और हर्षभी मिला है। एकनाथने सीताके हर्षको “सर्वांगे हर्षली जानकी। सुखोन्मुखी डुल्लत॥” से प्रदर्शित किया है।

प्रियसंबन्धी सभी वस्तुएँ वियोगमें दुःखके उद्दीपनका काम करती हैं। मुद्रिकाको देखकर अंचल नीचा करना, उसे हृदयसे लगाना, चूमना और उसको पलंगपर श्रम दूर करनेके लिए पौढ़ाना ये सब क्रियाएँ प्रेमकी पराकाष्ठाको दर्शाती हैं।

सीता प्रेममें इतनी निमग्न थी कि चेतन व अचेतनका कोई बोध उन्हें न रहा। यह देखकर हनुमानजी वृक्षकी आड़में सिसककर रोने लगे।

न म्हणे अचेतन सचेतन। प्रेमपूर्ण सीता संपूर्ण।

तेणें हनुमंतासी आलें रुदन। करी स्फुंदन वृक्षाआड ॥ ७ ॥

सातवीं ओवीके तीसरे और चौथे चरणकी साम्यताके लिए गीता-वलीकी पंक्ति ‘देखि गति सिय-मुद्रिकाकी बाल ज्यों दियो रोय।’को देखिए।

पतीविषयीं संशय-रत्नमाला

मुद्रिकाको देखकर सीताको बड़ा आनन्द हुआ और प्रेमसे पूछने लगी :—

“राम-लक्ष्मण कुशल तो हैं? वे मुझे क्यों नहीं छुड़ाते हैं? विकट बाण रखते हुए भी क्या उनमें इतनी शक्ति नहीं है? मुद्रिके! तू बता कि जब रावण मुझे हर ले गया तो राम-लक्ष्मणने पञ्चवटीमें आकर अतिदुःखित होकर क्या किया? निर्जन वनमें वे मूर्च्छित होकर तो नहीं गिर पड़े? क्या भेड़िया व बाघने तो उन्हें नहीं चौर डाला? सिंहने तो उन्हें घायल नहीं किया? वनैले हाथीने तो उन्हें नहीं रगड़ डाला?” सीता फिर कहने लगती है कि “ऐसा नहीं हो सकता। वे तो महावीर हैं। सिंह-व्याघ्र बेचारे उनका क्या कर सकते हैं! सिंह तो उन्हें देखकर डरकर भाग जाते हैं!! रावणने कुछ कुचक्र तो नहीं किया? रावणने स्नान-तर्पणके समय विश्वासघात तो नहीं किया? फल-मूल खाते या सोते हुए दोनों भाइयोंको मार तो नहीं डाला? क्या मुझे दुःखित जानकर रामने स्वयं अपने प्राण छोड़ दिए? नहीं तो रावणसे निपटकर क्या वे मुझे छुड़ाने न आते? मुद्रिके! सच कह कि श्रीराम कहीं संन्यासी तो

नहीं हो गए हैं? अथवा समाधिस्थ तो नहीं हो गए हैं? किंवा शरीर तो त्याग नहीं दिया है? ”

मुद्रिका देखोनि दृष्टी । अत्यानन्द मानी गोरटी ।
 सीता पुसे सप्रेम गोष्ठी । अवस्था पोटीं जे वर्ते ॥ ८ ॥
 कुशल असतां राम-लक्ष्मण । माझी कां न करिती सोडवण
 करावया नाहीं आंगवण । दुर्धर बाण असोनी ? ॥ ९ ॥
 मुद्रिके ! तूं सांगे गोष्ठी । रावणें मातें हरिल्यापाठीं ।
 दोघें येवोनि पञ्चवटी । अतिसंकटीं काय केलें ? ॥ १० ॥
 विजनीं मूर्च्छित पडले ? । कीं वृक-व्याघरीं फाडिलें ? ।
 किंवा सिंहें विभांडिलें ? । कीं रगडिलें वनगर्जी ? ॥ ११ ॥
 ते तों महावीर निधडे । सिंह-व्याघ्र काय बापुडे ! ।
 शार्दूल पळती तयांपुढें । केलें कुडें रावणें ! ॥ १२ ॥
 रावणें छळोनि केलें घाता । स्नान-तर्पण सम्पादितं ।
 अथवा फळ-मूळ भक्षितां । दोघे निद्रिस्तां मारिलें ? ॥
 माझेनि दुःख-शोकें जाणा । स्वयें रामें सांडिलें प्राणा ? ।
 ये-हवीं निवटोनि रावणा । माझे सोडवणा येता कीं ! ॥ १४ ॥
 मुद्रिके ! सत्य सांगे मजपाशीं । श्रीराम तरी जाहला संन्यासी ?
 अथवा पहुडला समाधिसेजेशीं ? किंवा देहासो त्यागिलें ॥ १५ ॥

तुलसीदासने रामायणमें सीता और मुद्रिकाके संवादका वर्णन नहीं किया है; परन्तु गीतावलीमें इसका विशद विवेचन किया है । श्रीराम-नामांकित अंगूठीको देखकर सीता कहने लगी :—

“अरी मुद्रिके ! मैं बलिहारी जाऊँ, बता तो क्या भाईसहित कृपालु कोसलनाथ कुशलसे हैं ? तू अमृतमय वचन सुनाकर मेरी विरहजनित ज्वाला-मालाओंको शान्त कर दे । हाय हाय ! हित करते हुए भी मैंने लक्ष्मणजीका तिरस्कार किया ! ! मेरे हृदयमें अभीतक उसका खेद बना हुआ है । सो ललित लषनलाल अपने रोषको शान्त कर क्या कभी मेरी सुधि करते हैं ? पतिदेव और देवरजीमें आजकल किस विषयकी चर्चा चला करती है ? हे देवी ! बता तो, उन्होंने बहुत-से रीछ-वानर किसलिए बुलाए हैं ? अरी मुद्रिके ! प्रभु तो शीलके भण्डार, सब प्रकार समर्थ, सच्चे स्वामी, दीनबन्धु और

परम दयालु हैं। मालूम होता है अभी प्रभुको किसीने मेरा समाचार नहीं सुनाया। इसीलिए उनके आनेमें इतना विलम्ब हुआ है।”

बोलि, बलि, मूंदरी ! सानुज कुशल कोसलपालु ।

अमिय-वचन सुनाइ मेटहि विरह-ज्वाला-जालु ॥ १ ॥

कहित हित अपमान में कियो, होतं हिय-सोइ सालु ।

रोष छमि सुधि करत कबहूँ ललित लछिमन लालु ? ॥ २ ॥

परसपर पति-देवरहिका होति चरचा चालु ।

देवि ! कहु केहि हेतु बोले विपुल वानर-भालु ॥ ३ ॥

सोलनीधि समरथ सुसाहिब दीनबंधु दयालु ।

दास तुलसी प्रभुहि काहु न कह्यो मेरो हालु ॥ ४ ॥

मुद्रिकाको देखकर सीताजीको आनंद हुआ । एकनाथने आनन्दको व्यक्त करनेके लिए ‘अत्यानन्द मानी गोरटी ।’ लिखा है; परन्तु तुलसीदासने आनन्दके भावको ‘बलि’ शब्दद्वारा अभिव्यक्त किया है। एकनाथ सीता-द्वारा यह कहलवाते है कि ‘कुशल असतां राम-लक्ष्मण । माझी कां न करती सोडवण ।’ तुलसीदास इस अवसरपर सीताकी स्वाभाविक उत्सुकताको प्रदर्शित करते हैं कि ‘सानुज कुशल कोसलपालु’। परन्तु एकनाथने सीताकी उद्विग्नताका पूरा विवेचन किया है। सीताका हर्ष बहुत देरतक टिक न सका। उनके मनमें संकल्प-विकल्प पैदा होने लगे। हृदयमें भावोंकी एक आँधी-सी आने लगी। अपने प्रियकी कुशलमें कुछ शंका-सी होने लगी। फिर रामचन्द्रके पुरुषार्थ और पराक्रमका अनुमान कर थोड़ी देरके लिए शंका-समाधान करतीं; तो दूसरा अनिष्ट विचार मनमें आता कि कहीं मेरे पति मेरे वियोगमें संन्यासी तो नहीं हो गए? समाधिस्थ तो नहीं हो गए अथवा धोखेसे रावणने तो उन्हें नहीं मार डाला?

तुलसीदासने इस अवसरपर सीता-द्वारा लक्ष्मणका कहना न मानने-पर पश्चात्ताप प्रकट करवाया है। तुलसीदासकी सीताको रामकी सामर्थ्यमें विश्वास है और वह कह उठती है कि ‘श्रीरामचन्द्रजीसे किसीने मेरा हाल नहीं कहा; नहीं तो वह मेरे छुड़ानेके लिए अवश्य आते।’

जब मुद्रिका सीताके प्रश्नका उत्तर नहीं देती तो वे पूछने लगती हैं:—

“मुद्रिके ! तेरे मौनसे क्या यह नतीजा निकलता है कि राम-लक्ष्मण शान्त हो गए ? मुद्रिके ! तूने मार्ग कैसे तै किया ? विस्तृत समुद्र कैसे पार किया ? क्या श्रीरामने मुझे बुलानेके लिए तुझे यहाँ भेजा है ?” ऐसे कहते कहते जानकीजी मूर्च्छित हो गिर पड़ीं ।

मुद्रिके ! मौनाचें लक्षण । निमाले राम-लक्ष्मण ?

हेचि तुझे मौनवचन । अतिसावधान निज मौनें ॥ १६ ॥

मुद्रिके ! तुज कसैं चालविलें वाटा । कैसेनि उल्लंघविलें घाटा ।

समुद्र तरौनि दुस्तर मोठा । कैसेनि परतटीं आलीस ? ॥ १७ ॥

मज संबोधावया येथें । तुज काय धाडिलें श्रीरघुनाथें ।

ऐसें बोलत बोलत तेथें । पडे मूर्च्छित जानकी ॥ १८ ॥

(सुंदरकांड अ० ११)

एकनाथने मुद्रिकाके उत्तर न देनेपर सीताका हतोत्साह और शोका-कुल होकर मूर्च्छित होना बताया है; परन्तु तुलसीदासने मुद्रिकासे यह उत्तर दिलाया है कि रामचन्द्रजी लक्ष्मण और दलसहित कुशल हैं । लक्ष्मणजीको तुम्हें छोड़नेका पश्चात्ताप है और श्रीरामचन्द्रजीका तो चित्त ही निरुत्साही हो गया है । परन्तु ऋतु विपरीत होनेके कारण तुम्हारा शोध न लगा सके ! इसलिए कुछ न कर सके । अब तुम्हारा पता पाते ही वे उपाय करेंगे ।

सदल सलषन हें कुसल कृपालु कौसल-राउ ।

सील-सदन सनेह-सागर सहज सरल सुभाउ ॥ १ ॥

नींद-भूख न देवरहि, परिहरेको पछिताउ ।

धीर धुर रघुवीरको नहि सपनेहू चित चाउ ॥ २ ॥

सोधु बिनु, अनुरोध रितुके, बोधबिहित उपाय ।

करत हें सोइ समय साधन, फलति बनत बनाउ ॥ ३ ॥

भारुड

कविकी स्फूर्ति स्वाभाविक होती है । परन्तु प्रत्येक कविका एक क्षेत्र होता है जिसको उद्देश्यमें रखकर वह अपनी रचना करता है । स्वान्तः

सुखाय भी जो कविता की जाती है वह अपनी ओर एक विशेष समुदायको आकर्षित करती है। एकनाथकी कवितामें लोकरंजनका भाव सर्वत्र दिखाई देता है। उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें ऐसी भाषाका प्रयोग किया है जिसे सामान्य साक्षर लोग समझ सकें। फिर भी ऐसे विशिष्ट समुदायोंके लिए जो इस स्तरतक भी नहीं पहुँचते हैं उन्होंने उनके वातावरण और मनोनुकूल विषयोंमें आध्यात्मिक ज्ञान भर दिया है। ये हैं इनके भारूड जिनकी भाषा और विषयभी तद्रूप हैं। ये ग्रामगीत हैं जो लोकप्रिय होनेके कारण 'बहुरूड' कहे जाने लगे और यह शब्द विकृत होकर भारूड बन गया। ये ग्रामगीत देखनेमें निरर्थक प्रतीत होते हैं। परन्तु भावगर्भित और अर्थपूर्ण हैं। इनमें सन्तोंकी वाणीके गहन उपदेश छिपे हुए हैं। स्व. पांगारकरके मतानुसार भारूडोंका उद्देश्य यह है कि सब लोग सर्वात्मभावका आनन्द भोगें व सकल भेदभावको छोड़कर परमात्म स्वरूपमें लीन हो जायें।" श्री. न. र. फाटकने भारूडोंका उद्देश्य यह बताया है कि 'जोशी, बालसन्तोष वासुदेव, गारुडी, पाईक इत्यादि भिन्न भिन्न नामोंसे घूमकर भीख माँगनेवाले लोगोंको भिक्षा माँगते समय जो बोलना पड़े उसमें परमार्थविषयक विचारोंको गाँवोंके लोगोंके कानतक पहुँचाया जाय।' भारूडोंको गारूड भी कहते हैं। क्योंकि इनमें अद्भुतपना, हास्य, विनोद और चमत्कार भी होता है। सुननेवालोंका विनोद भी हो और बोध भी। इस उद्देश्यसे इनकी रचना की गई है। इन भारूडोंमें ३५० वर्षपूर्वके महाराष्ट्र-समाजकी उत्कृष्ट झलक पाई जाती है।

कालकी गतिसे महाराष्ट्रकी यह जन-सम्पत्ति गानेवाले लोग धीरेधीरे बहुत कम हो गए और इनके अर्थ जाननेवाले लोग तो उँगलियोंपर ही गिने जा सकते हैं। इसका अर्थ यही है कि जिस ज्ञानज्योतिके प्रकाशसे महाराष्ट्रके बहुजन-समाजने भी अपने ज्ञान-ज्योतिके दिये जलाये थे वे धीरेधीरे बुझते जा रहे हैं। बहुजन-समाज या तो अपने उत्थानद्वारा इनसे अब प्रभावित नहीं होता अथवा उनमें इन धार्मिक प्रतीकों की ओर कोई रुचि बाक्री नहीं रही है। उत्तरीय भारतमें गौरा-महादेवके गीत गानेवालोंकी जो स्थिति है वही भारूड गानेवालोंकी यहाँ है।

भारुड़ोंका जन्म ज्ञानेश्वरकालमें हुआ; परन्तु इनका उत्कर्ष एकनाथ-कालमें हुआ। नाथके भारुड़ १२५ विषयोंपर हैं जिनकी संख्या तीनसौसे ऊपर है। इनमें जोहारोंकी संख्या ५० है। एकनाथके इस रूपक रहस्यको स्पष्ट करनेके लिए उनके जोहारका एक नमूना नीचे दिया जाता है। वे लिखते हैं कि :—

“ कसबा काया-पुर साढ़े तीन हाथ लम्बा है। इसमें ३६० मुहल्ले हैं, चौदह चौक व दस रास्ते हैं। शिवाजीपंत इस गाँवके मालिक है। उन्होंने जीवाजीपंतको अपना दीवान बनाकर भेजा है और यह आदेश दिया है कि कसबेकी व्यवस्था ठीक रखना और अन्तमें जमाखर्चका हिसाब देकर बाक़ी पूरी करना। यहाँ कामक्रोधादि षड्विकारोंने मनाजीकी सहायतासे लूट-मार मचायी है। ये सब प्रतिष्ठित मित्र जीवाजीपंतके सामने सौम्य बन गए। कामाजी कोतवालने बहुतोंको सता डाला है और हरीहरकी इज्जत लेनेमें भी किसीका डर नहीं है। क्रोधाजी फ़ौजदार भी उससे मिल गए हैं। उन्होंने जमदग्नि, दुर्वासासदृश बड़े बड़े ऋषियोंको सता रखा है। लोभाजी चौधरीको पैसोंकी बड़ी लालच है। अहंकार पटेलसे सब गाँव काँपता है। दंभाजीसेठ सदा दौड़धूप करते हैं। इन सबको रयतपर दया-मया कुछ नहीं है। गाँव उजाड़ दिया है। शिवाजीपंतको हिसाब दो; नहीं तो इसके पैरमें सदाके लिए बेड़ी पहना दो। एकनाथमहाराज कहते हैं कि गुरुकी शरणमें जाओ; तभी तुम्हारे गाँवका संचालन अच्छी तरह हो सकेगा। ”

कसब कायापूर लांबी साडेतीन गांव ।

तिनशें साठ पेठा तेथें नांदति उमराव ।

चौदा चौक दहा रस्ते बसविले अपूर्व ।

दिली धन्यानें सनव जिवाजीपंताच्या नांवें ।

जोहार मायबाप जोहार महार भी कायापुरीचा ।

जन्मोजन्मीं वेसराख्या आहें या गांवाचा ॥ जोहार० ॥ १ ॥

शिवाजीपंताने जिवाजी ठेविला दिवाण ।

साही षड्विकार त्यासी मिळालें मन ।

आप आपणापरी मधिच ते घेती भोदून ।
 तुम्ही सर्व एका तुम्हांसी सांगतों खूण ॥ जो० ॥ २ ॥
 कामाजी कोतवाल त्याणें नाडिलें बहुतांसी ।
 हरीहरांची अबू घेतो भय नाहीं त्यासी ।
 क्रोधाजी फौजदार तेही मिळाले त्यासी ।
 जमदग्नी दुर्वासा नाडिलें महा महा ऋषी ॥ जो० ॥ ३ ॥
 लोभाजी चौधरी याला पेंशाची फार हांव ।
 अहंकार पाटिल त्यासी कांपतो सर्व गांव ।
 दंभाजी शेते सर्वदा करिति धांवाधाव ।
 दया नहीं रयतेवर केला उजाडचि गांव ॥ जो० ॥ ४ ॥
 शिवाजीपंतास हिशेब द्या अवघा झाडा ।
 नाहीं तर याचे पायीं टाका अनुहात खोडा ।
 तरिच मायबाप गांव तुमचा चालेल बरा ।
 एका जनार्दनि पाय गुरूचे बळकट धरा ॥ जो० ॥ ५ ॥

मनुष्यकी लम्बाई साढ़ेतीन हाथकी होती है । इस शरीरमें ३६० हड्डियाँ हैं । इसमें चौदह हड्डियोंके जोड़ हैं । दस इन्द्रियाँ हैं । शिवाजीपंत (परमात्मा) ने जीवाजीपंत (जीव) को यह शरीर सुपुर्द किया है । काम, क्रोध, लोभ मोह, अहंकार और दंभ इस शरीरको सता रहे हैं । जीव यदि इस शरीरका व्यवस्थित प्रबन्ध न करेगा तो गर्भवासके चक्रमें पड़कर सदा जन्म-मरण पाता रहेगा । इनसे मुक्त होनेका एक उपाय यही है कि गुरुकी शरणमें जा ।

एकनाथने इस रूपक द्वारा अध्यात्मके इस गहन तत्त्वको कितनी सरलतासे हृदयङ्गम कराया है कि जीवात्मा इस शरीरका निरीक्षक है, जिसका यह कर्तव्य है कि इस शरीरको षड्रिपुओंसे और मनसे सुरक्षित रखे । नहीं तो जन्म-मरणका चक्र सदा भोगना पड़ेगा । इस अध्यात्म तत्त्वके साथ-साथ तत्सामयिक शासनकी तरफ भी इशारा किया है जहाँ कोतवाल, फौजदार, चौधरी, पटेल व सेठ गाँवको सब प्रकारसे लूट रहे थे और उन्हें बिल्कुल दया-मया न थी जिसके कारण गाँवके गाँव उजड़ रहे थे ।

‘जोहार’ जयहरका विकृतरूप है। महार लोग अपनेसे बड़ोंको अभिवादन करते समय इसका उच्चार करते हैं। उत्तर प्रदेशके ग्राममें इस शब्दका प्रयोग इसी अर्थमें किया जाता है। जोहारका प्रयोग अन्य जातियोंमें न होकर केवल महारकी हदतक महाराष्ट्र-प्रदेशमें सीमित होनेसे क्या यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि इनका संबंध उत्तरीय भारतसे है ?

इन जोहारोंसे हमें एक पता और लगता है कि एकनाथ अपनेको कहीं निर्गुण नगरीका महार, कहीं बिठू पटेलका और कहीं रामजी पटेलके दरवाजेका महार बतलाते हैं। कभी वे अपनेको संत-सभाका महार बतलाते हैं इत्यादि। इससे स्पष्ट होता है कि एकनाथको इन महारोंके प्रति न केवल सहानुभूति है; अपितु वे उनके साथ समरस हो गए हैं और महार बननेमें कोई हेय नहीं समझते थे। उन्होंने अपने व्यवहारसे स्पष्ट कर दिया कि वे गीताके इस उपदेशानुकूल आचरण भी करते थे —

“शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।”

भारूड़के रचयिताकी हैसियतसे एकनाथकी तुलना हिन्दीमें कबीरके रूपक रहस्यों और उलटवासियोंसे की जा सकती है जिनकी अटपटी वाणीने भी इन्हीं बहुजन-समाजको अधिक आकृष्ट किया। तुलसीदासने भी रूपक रहस्यमयी कुछ रचनाएँ की हैं। वे कहते हैं :—

“अरे भाई ! रामनाम कहते चलो; नहीं तो संसारी बेगारमें पड़ जाओगे जहाँसे छूटना बड़ा कठिन है। हमारे कुटिल कमौने चन्द्र डोलेका नाम लेकर बिना दामका निकम्मा डोला मत्थे मढ़ दिया है जिसके बाँस पुराने हैं जिसमें बेतरतीब साज लगे हुए हैं जो सड़ा-गला और तीन कोनेका खटोला है। इसके उठानेवाले कहार एक-से नहीं हैं। वे कामरूपी मद्यमें मतवाले हैं और इसीसे एक-से पैर रखते नहीं चलते। कोई किधर जाता है और कोई किधर ! कभी नीचेकी ओर और कभी ऊँचेकी ओर चलनेसे धक्के और झटके लग रहे हैं और इस खींचातानीमें बड़ा दुःख हो रहा है। रास्तेमें काँटे बिछे हैं, कंकड़ पड़े हैं, साँप अलग लिपट जाते हैं। जगह-जगहपर उलझनें हैं। ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते हैं त्यों-त्यों मंजिल दूर होती चली जाती है। कोई संगी-साथी भी तो नहीं मिलता कि उसके साथ-साथ जैसे-तैसे वहाँतक

पहुँच जायें। मार्ग बड़ा कठिन है। साथमें राह-खर्च भी नहीं है। जहाँ जाना है उस गाँवका नामतक याद नहीं। इसलिए हे रामचन्द्रजी ! इस तुलसीदासके सांसारिक भयको, जन्म-मरणके दुःखको आपही कृपा कर दूर कीजिए।”

राज कहत चलो, राम कहत चलो, राम कहत चलो भाई रे।

नाहि तो भव-बेगारि महँपरि हो छूटत अति कठिनाई रे ॥ १ ॥

बाँस पुरान साज सब अटखट सरल तिकोन खटोला रे ॥

हमहि दिहलकरि कुटिल करमचंद मन्दमोल बितु डोला रे ॥ २ ॥

विषम कहार मार-मद-माते चलहि न पाउँ बटोरा रे।

मन्द बिलन्द अभेरा दलकन पाइय दुख झकझोरा रे ॥ ३ ॥

काँट कुराय लपेटनलोटेन ठाँवाहि ठाउँ बझाऊ रे।

जसजस चलिय द्वारि तसतस निज बास न भेंट लगाऊ रे ॥ ४ ॥

मारग अगम, संग नाहि संबल, नाउँ गाउँकर भूला रे।

तुलसीदास भव-त्रास हरहु अब, होहु राम अनुकूला रे ॥ ५ ॥

तुलसीदासने तिकोने खटोलेसे शरीरकी उपमा दी है। “कर्म बढई है जिसने हमें मुफ्त शरीररूपी डोला बनाकर दिया है। जन्मजन्मान्तरोंकी विषय-प्रवृत्ति पुराना बाँस है। प्रकृति, महत्तत्त्व और अहंकार ये तीन पाटियाँ हैं तथा सत्त्व, रज और तमोगुण ये तीन पाँव हैं। यह शरीर क्षणभंगुर है इसलिए इसे सड़ा-गला कहा गया है। जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति ये जो तीन अवस्थाएँ हैं वे ही इस खटोलेके तीन कोने हैं। ज्ञानियोंकी दृष्टिमें यह मंद डोला है। इसको उठानेवाले कहार पाँच हैं और वे हैं जिह्वा, नेत्र, नासिका, कर्ण और त्वचा। ये सब अपने-अपने विषयकी ओर दौड़ रहे हैं। इन्द्रियाँ कभी तो बुरी वासनाओंकी ओर दौड़ती हैं और कभी सद्-वासनाओंकी ओर; परन्तु मनके संकल्प-विकल्पके कारण पूरा कुछ भी नहीं पड़ता। जीव बीचमें व्यर्थ ही धक्के खा रहा है। शरीर-यात्राके मार्गमें अनेक बाधाएँ हैं। चाहते तो यह है कि ब्रह्मानंद पीयूष-पान करें; पर मिलता है विषय-मुखोंका जहरीला प्याला ! परमार्थ चलना, तलवारकी धारपर चलना है। सत्कर्म भी नहीं किए हैं जिनके बल-भरोसेपर मार्ग तय कर लिया जाय। निर्दिष्ट स्थानतक मालूम नहीं, फिर ईश्वरकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ?”

तुलसीदासने भी एकनाथकी भाँति बहुत-से पद जन-साधारणकी भाषामें लिखे हैं। इस पदमें बहुत-से प्रान्तीय शब्द आए हैं। मुहाविरे भी ग्रामीण हैं। इसका उद्देश्य यही है कि उनकी अमृत वाणीसे वे लोग भी लाभ उठा सकें जो उच्च भावोंको सुसंस्कृत वाणीमें नहीं समझ सकते। तुलसीदासने बेगारका भी जिक्र यहाँ किया है जिससे तत्सामयिक बेगार प्रथापर प्रकाश पड़ता है।

एकनाथने कुछ भारूड़ हिन्दीमें भी लिखे हैं। यद्यपि भाषाकी दृष्टिसे इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है तथापि इससे उनकी बहुमुखी प्रतिभाका पता चलता है। नाथ परमार्थ बतानेवाले (गारुडी) सपेरा बनते हैं। अपनी झोलीमें साँप लेकर रास्तेपर खेल दिखानेवाला यह सपेरा बड़े-बड़े महाजनोंको हिन्दी भाषामें पुकार-पुकारकर अपना खल दिखाता है और कहता है कि अज्ञानके कारण मनुष्य काम, क्रोध, मद, मत्सर, दंभ अहंकारमें फँसा हुआ है। जिस प्रकार सपेरा साँपके जहरको उतारनेकी जड़ी बूटी (मोहरा) अपने पास रखता है और उससे जहर उतारनेमें समर्थ होता है उसी प्रकार ये सपेरा सद्गुरुकी जड़ी बूटी द्वारा सांसारिक षड्विपुओंको प्रेम, भक्ति व ज्ञान द्वारा नष्ट करनेके योग्य हैं। वे कहते हैं:—

सुनो संतसज्जन भाई । हम तो निराकारके गारुडी आया है ।

ये देखो खेल खेलते रास्तेमें । अलम दुनिया देखत है ॥

अबे चल यहाँ हंडी बाग । जरा प्रेमका ढोल बजाव ।

लग लग लग लग ॥

पहिले तो छे साप निकालुं मैदानमें । बड़े-बड़े अजगर ।

उसके नाम बताऊँ । काम क्रोध मद मत्सर दंभ अहंकार ।

अबबब । अज्ञानके पेटीमें भरे हैं ।

निकालूँ सम्हाल बे डंक मारेगा ।

ये हाथ डाला । डंक मारा बे डंक मारा । हाय हाय !

बड़ी बड़ी वेदना होती है । अबी जान जाती है ।

तुझकुं क्या बताऊँ । अबी उतारनेवाला कौन बुलाऊँ ।

सुनो मेरे पास सद्गुरुका मोहरा है । प्रेमकी बनाऊँ सान ।

बोधका बनाऊँ पानी । भक्तिके बैठुं दरबारमें ।

अभी लगाऊँ घसके । तो सबहि जहर उतारूँ ।

ऐसा एका जनार्दनी खेल । भवती पुरस्सर लगाया मेल ।

ढोंगकी निन्दा

एकनाथ ढोंगके विरोधी थे । उन्होंने इस ढोंगकी निन्दा जगह-जगह की है जिससे कभी-कभी लोगोंको यह भ्रम होने लगता है कि वे भागवत-धर्मके अनुयायी कैसे हो सकते हैं ? वास्तवमें वे भागवत-धर्मके सच्चे अनुयायी थे । उन्होंने उस कालके उन जोगी-संन्यासियोंकी निन्दा की है जो झूठा वेष बनाकर भोली-भाली जनताको हिन्दू धर्मकी आड़में ठग रहे थे । एकनाथको उस कालके स्पर्शस्पर्श से भी अत्यन्त क्षोभ था जिसके कारण हिन्दुओंकी संख्या दिनोदिन कम होती जा रही थी । उन्होंने बड़े अक्खड़पनेसे इसकी निन्दा की है ।

“ हक़िमणी-स्वयंवरमें बरात देखनेके लिए बड़ी भीड़ जमी हुई थी । उस समय धोखेसे एक वेश्याने संन्यासीको स्पर्श कर लिया । इन दोनोंमें जो संभाषण हुआ वह अत्यन्त बोधप्रद है । वेश्याके स्पर्श करनेपर संन्यासीको क्रोध आया । उसने वेश्याकी भुजाओंको ठोकते हुए कहा कि ‘अरी वेश्या ! तू श्रीकृष्णके इस उत्सवमें इतनी भूल गई है कि तुझे अपनी देहकी सुध-बुध नहीं रही !’ फिर लात मारकर कहा कि ‘तूने मुझे स्पर्श क्यों किया ?’ इसपर वेश्या हँसकर बोली कि ‘हे संन्यासी ! तुमने अभीतक क्रोध नहीं छोड़ा । दण्ड और भगवा वस्त्र धारण करना एक विडम्बना मात्र है । तुम्हें आत्मदृष्टि नहीं है । मैं उत्तम हूँ, तुम नीच हो, यह विषयभेद तुममें मौजूद है ! तुम्हें इसका ज्ञान नहीं है कि सब प्राणियोंमें एकही आत्मा मौजूद है और न तुममें शान्ति ही है ! भगवा वस्त्र धारण करनेसे क्या लाभ ? संन्यासीकी उपाधि तो प्राप्त कर ली है ; पर उसके लक्षण नहीं हैं । बोटी मुँडवा डाली ; परन्तु वासना चौगुनी हो गई है । श्रीकृष्णके दर्शनके इच्छा भी यदि किसीको स्पर्शस्पर्शका भान हो तो उसे अंधा व अज्ञानी समझना चाहिए । ”

वेश्या आणि संन्याशी । मंडप-घसणी होतसे कंशी ।
 कोप आला श्रीपादासी । दंडे वेश्येसी ठोकित ॥
 येरी विसरली देहासी । वृत्ती लाधली श्रीकृष्णासी ।
 रागें लाथा हाणोनि तिसी । विटाळ आम्हांसी कां केला ?
 येरी हांसोनि कपाळ पिटी । अजून क्रोध न सोडी पोटी ।
 विटंबिली दंड कासोटी । आत्मदृष्टी तुम्हां नाही ॥
 मी उत्तम पें लहान । विषयभेदाचें अशन ।
 सर्वाभूतें समसमान । निजात्मज्ञान तुम्हां नाही ॥
 नाही निज शांति रोकडी । तंव कां केली तडातोडी ।
 भगवीं नाशिलीं लुगडीं । उपाधी गाढी श्रीपादा ॥
 शेंडी टाकिली उपटोनी । वासना वाढविली चौगुणी ।
 श्रीकृष्ण देखिलिया नयनीं । विटाळ मानी तो निजांघु ॥

एकनाथका मत है कि ' जिसने षड्रिपुओंको जीता नहीं और जिसने विषयोंका त्याग नहीं किया उसका संन्यास व्यर्थ है । '

पांच ज्ञानेन्द्रियाँ और छट्वा मन ये छः शत्रु हैं । इनको जिसने अपने वशमें नहीं किया है उसका संन्यास ग्रहण करना केवल एक विडम्बना है । उसका दण्ड धारण करना, सर मुडाना, भगवा वस्त्र धारण करना व्यर्थ है ! उसका संन्यास व्यर्थ है ! उसका यह वेष एक ढोंग है ! '

ज्ञानेन्द्रियें पांच सहावें मन । हेचि अरि षड्वर्ग जाण ।
 यांचें न करितां निर्बळण । संन्यास घेणें तो विटंबू ।
 त्याचा व्यर्थ संन्यास जाण । व्यर्थ त्याचें दंडण-मुंडण ।
 व्यर्थ काषाय वस्त्रें ग्रहण । वेषधारण नटाचा ॥

तुलसीदासने भी ढोंगकी निन्दा की है । वे कहते हैं कि ' कलियुगमें उसीको ज्ञानी व वैरागी समझा जाता है जिसने वेदविहित मार्गको छोड़ दिया है और जो आचारहीन है, जिसके बड़े बड़े नख और जटा हैं । वही प्रसिद्ध तपस्वी है जो निन्दनीय वेष और भूषण बनाए रहते हैं और भक्ष्याभक्ष खाते हैं । उन्हींको योगी और सिद्ध कहकर कलियुगमें सब पूजा

करते हैं। जो नीच वर्णके लोग तेली, कुम्हार, चाण्डाल, कोल, किरात, कलवार हैं वे सब ज्योंही स्त्री मरी या खानेका ठिकाना नहीं रहा मूँड़ मुड़ाकर संन्यासी हो जाते हैं और ब्राह्मणोंसे पैर पुजवाते हैं।

निराचार जो श्रुति-पथ-त्यागी । कलियुग सोइ ज्ञानी बैरागी ॥

जाके नख अरु जटा विशाला । सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला ॥

अशुभ वेष भूषण धरे भक्ष्याभक्ष्य जे खाहिं ।

ते योगी ते सिद्ध नर, पूज्य ते कलियुग माहिं ॥

जे वर्णाधम तेलि कुम्हारा । श्वपच किरात कोल कलवारा ।

नारि मुई गृह सम्पत्ति नासी । मूँड़ मुंडाय भये संन्यासी ॥

ते विप्रन सन पाँव पुजावहिं । उभय लोक निज हाथ नसारविं ॥

तुलसीदासजी अन्यत्र कहते हैं कि 'काम, क्रोध, अहंकार, लोभ और अज्ञानने मिलकर ज्ञान-वैराग्यको हर-सा लिया है। संन्यास ग्रहण करनेपर यह मन ऐसा बिगड़ जाता है जैसे पानीके डालनेसे कच्चा घड़ा; अर्थात् मन जबतक गुद्ध और शान्त नहीं हुआ, तबतक संन्यास लेना और भी अनिष्टकारी है। इसलिए जब मन सब विषयोंकी ओरसे तृप्त हो जाय, इन्द्रियाँ जीत ली जायँ और शान्तका अनुभव होने लगे, तब इस आश्रममें प्रवेश करना चाहिए।'

काम, क्रोध, मद, लोभ मोह मिलि ग्यान विराग हरो सो ।

बिगरत मन संन्यास लेत जल नावत आम घरो सो ॥

एकनाथ और तुलसीदास दोनोंने ही केवल वेषधारी संन्यासियोंकी निन्दा की है। एकनाथने जिस भावको "ज्ञानेंद्रियें पाँच सहावें मन विटंबू।" से व्यक्त किया है उसे तुलसीदासने "काम, क्रोध, मद आम घरो सो।" से प्रकट किया है।

कबीरदासने इस भावको यों स्पष्ट किया है :—

दाढ़ी-मूछ मुड़ाइ कं, हुआ जो घोटम घोट ।

मनको क्यों नहिं मूड़िए, जामें भरिया खोट ॥

एकनाथ कहते हैं कि 'स्नान करने, दान देने, शास्त्र पढ़ने, वेदाध्ययन करनेको तप नहीं कहते। न तप योग ही है और न यज्ञ करना। तपका अर्थ है वासनाका छोड़ना, जिससे काम-क्रोधका संसर्ग छूटता है। परमेश्वर उसे ही अच्छा तप समझता है जिससे दम्भ, लोभ, अहंकार और ममता समूल नष्ट होते हैं। तब आत्मस्वरूपका दर्शन-लाभ होता है।'

तप म्हणजे नव्हे स्नान । तप म्हणजे नव्हे दान ।

तप नव्हे शास्त्राख्यान । वेदाध्ययन नव्हे तप ।

तप म्हणजे नव्हे योग । तप म्हणजे नव्हे याग ।

तप म्हणजे वासना-त्याग । जेणें तुटती लाग काम-क्रोधाचे ।

जेणें दंभ लोभ निःशेष आटे । अहं ममता समूळ तुटे ।

याच नांव तप गोमटें । मानी नेट-पाटें विघाता ।

एकनाथ चाहते थे कि भक्ति, शुद्धि, नामस्मरण ये दिखावा मात्र न हो; अपितु हृदयसे हो। वे कहते हैं कि :—

“धन जोड़कर भक्तिका दिखावा करनेसे कोई लाभ नहीं। क्योंकि ऐसा करनेसे मनमें वासना और भी बढ़ती जायगी। ऐसे बगला भक्तोंको—जिनका चित्त वासनाओंमें फँसा हुआ है—अन्तरात्माके दर्शन कैसे हो सकते हैं? ऐसे मनुष्यके लिए भक्तिका भाव वृथा है जो एक ओर आशासे मोह करे और दूसरी तरफ़ अनुष्ठान करे और जिसका मन धनके लिए सदा दौड़ता रहे। यदि धनकी आशा छोड़कर तू अपना मन परमात्मामें लगा देगा तो भक्तिप्राप्तिमें सफलता हो सकेगी।”

गांठी बांधोनि धन, मिरवितो भक्ति । मनीं ते आसक्ति, अधिक व्हावें ॥

चित्त वित्तावरी, भक्ति लोकाचारी । देवो अभ्यंतरीं केवि भेटे ॥

आशेतें वीत, लावी काळांतरीं । अनुष्ठान करी दिवस गणीत ॥

धनालागीं मन, घेत असे धांवा । भक्तीच्या त्या हावा व्हाऊगीया ॥

धन सांडुनि मन, घेई जनार्दना एकाएकीं । जाण, भक्ती फळे ॥

तुलसीदासने इस भावको यों व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि 'हे हरे! किस उपायसे मैं मुख मानूँ? मेरा करतब हाथीके दाँतोंके समान',

तुम तो भली भाँति जानते हो ।' भाव यह है कि मैं हूँ तो महा अधम; पर बनता हूँ महात्मा ! देखनेमें तो मोर सुन्दर लगता है । मीठी वाणीसे ऐसे वचन बोलता है, मानों अमृतसे सने हों; किन्तु उसका आहार है जहरीला साँप ! कैसा कठोर है ! यह करनी है और वह कयनी ! दोनोंमें पृथ्वी-आकाशका अन्तर है ।

हे हरि, कवन जतन सुख मानहुँ ।

ज्यों गज-दसन तथा मम करनी, सब प्रकार तुम जानहु ॥ १ ॥

देखत चारु मयूर बैन सुभ बोल सुधा इवसानी ।

सविष, उरग-आहार निठुर अस, यह करनी वह बानी ॥ ३ ॥

एकनाथने यद्यपि रामनामकी महिमा खूब गाई है फिर भी वे मुखमें राम और मनमें वासनाके विरोधी हैं । वे कहते हैं जो मनुष्य रामनाम स्मरण करता है; परन्तु उसके आचरण सदोष हैं तो उसकी भक्ति, श्रवण व मनन वृथा हैं । रामनामके बलपर अधर्म मत करो । राम-नाम-स्मरणके साथ-साथ शुद्ध कर्म भी करना जरूरी है । जब दुर्वासाने क्रोध कर अंबरीषको शाप दिया तो भगवानने सुदर्शन चक्रद्वारा दुर्वासाको कष्ट दिया । यमने बिना अपराध ही मांडव्यको सूलीपर चढ़ा दिया जिसके कारण उसे दासपुत्र होना पड़ा । सत्यवादी, धर्मनिष्ठ राजा युधिष्ठिरने एक बार ही “अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो वा ।” कहा जिसके कारण उनका अँगूठा गिर गया । मनुष्यको चाहिए कि वह संतोंके आचरणपर चले तो सद्गुरुकी कृपासे अन्तर्बाह्य शुद्ध हो सकेगा ।

नाम स्मरतों ह्यणुनी आचाराल दोष ।

तरी श्रवण, मनन, भक्ति पडियली दोस ।

रामनामाचेनि बळें नका करुं अधर्म ।

देव विषयीं तुमचें शुद्ध नोहे कर्म ॥

दुर्वासाचें पाप अंबऋषी विल्हा शाप ।

देवाचेनि चक्रें तथा दीधला संताप ।

निःशाप मांडव्य शूळावरी वाहिला ।

इतक्यासाठीं यमदास-पुत्र झाला ॥

सत्य वचनी धर्म सदा असे एकनिष्ठा ।

असत्य मात्रें तथाचा झडला अंगुष्ठ ।

एका जनार्दनीं संत सोईनें चाले ।

सद्गुरुचेनि कृपे सबाह्य शुद्ध झालें ॥

नाथमहाराज फिर कहते हैं कि 'मुखसे रामराम कहना और मन-माना विषयानुरूप आचरण करनेसे कोई लाभ नहीं है ! जबतक वाणी-द्वारा रामस्मरण और मनद्वारा रामध्यानका संयोग न हो तबतक नाम-स्मरणको पाखंड ही समझना चाहिए । यदि मन और वाणी दोनोंके योगसे नामस्मरण किया जाय तो साक्षात् ईश्वरकी प्राप्ति होती है ।'

नाम बढतां हे बैखरी । चित्त धांवे विषयावरी ।

कैसें होता हे स्मरण । स्मरणामाजी विस्मरण ॥

नाम रूपा नाहीं मेळ । नुस्ता वाचेचा गोंधळ ॥

एका जनार्दनीं नाम । नामीं प्रगटे आत्माराम ॥

नाथने ऋण करके उत्सव मनानेको बुरा समझा है । घरके कुटुम्बियोंको भूखा रखकर लौकिक व्यवहारके लिए यज्ञ करना अधर्म समझा है । इसी तरह नाथने जीविका छोड़नेको बुरा कहा है । लौकिक मानके लिए जो दान देते हैं उनको नाथ दंभी समझते हैं ।

पाडोनि कुटुंबासी लंघन । सर्व द्रव्य वेंचूनि जाण ।

करूं नये यज्ञाचरण । अधर्मपण ते पाहीं ॥

कां जीविका जीवनवृत्ति । त्याग करूं नये निश्चितीं ।

लौकिकीं मिरवावया स्फूर्ति । त्याग करिती तो दंभ ॥

अन्यत्र श्री एकनाथ कहते हैं कि 'अपने कुटुम्बको दुःखी करके जो अन्न व धन दान देता है वह पूर्ण अधर्म है । इसे शुद्ध पुण्य नहीं कह सकते । सब कुटुम्बको यथोचित सुखी करके जो धन बचे उसे परोपकारमें व्यय करना उचित है ।'

कुटुंब पीडूनी आपण । अन्यत्र द्यावें अन्न धन ।

तोचि अधर्म परिपूर्ण । शुद्ध पुण्य तें नव्हे ॥

कुटुंबेसी यथोचित । सुखी करूनि समस्त ॥

याहूनि उरला जो अर्थ । तो श्रेयार्थ वेंचावा ।

एकनाथका मत है कि 'ब्रह्म प्राप्त करनेके लिए घर-द्वार छोड़नेकी आवश्यकता नहीं है । ईश्वरमें जिसकी चित्तवृत्ति रंग गई है चाहे वह

गृहस्थाश्रमी भी हो अथवा वानप्रस्थाश्रमी, गरीब हो या अमीर, ब्राह्मण हो या शूद्र उसे उद्धव मेरी प्राप्ति अवश्य होती है । भगवान कहते हैं कि 'जहाँ मेरा भक्त मेरी भक्ति करता है मैं उसकी भक्तिके वशमें—कुल, वर्ण इत्यादिको न देखते हुए—उसके पास पहुँच जाता हूँ । इसलिए ईश्वरप्राप्तिके लिए गृहस्थाश्रम छोड़नेकी जरूरत नहीं ।'

माझा भावार्थ जेथें होय । तेथें मी जातो कुळी न पाहें ।

मी भावाचेनी लवलाहें । वश्य होय निजभक्ता ॥

मजमध्ये रंगली चित्तवृत्ति । यालागीं विसरला गृहासक्ती ।

त्याशीं गृहास्थाश्रम मीच माझी प्राप्ती । निश्चये जाण उद्धवा ॥

नाथने इस प्रकार प्रपंच और परमार्थ दोनोंका सामंजस्य बड़ी सुन्दरतासे किया है और इसीमें नाथधर्मकी विशेषता है । इसीको तुलसीदासने राजमार्ग बतलाया है ।

गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहि लागत राज डगर सो ॥



अध्यात्म-दर्शन

ईश्वर-निरूपण

‘अध्यात्म’ शब्दका अर्थ है “ पारलौकिक परिणामका विचार।” सृष्टिमें इन्द्रियगोचर जो पदार्थ हैं उनकी मीमांसा न करते हुए उनके परे जो पदार्थ हैं उन्हें ज्ञानद्वारा समझानेका विचार जिस ग्रन्थमें किया जाता है उसे अध्यात्म ग्रन्थ कहते हैं। इन ग्रन्थोंमें युक्ति, प्रमाण और अनुभवसे समझानेका प्रयत्न किया जाता है। और अध्यात्मके अतिरिक्त नीतिसंबन्धी विषयोंकी भी चर्चा की जाती है। सृष्टिमें सबसे उत्तम प्राणी मनुष्य है। उसका सृष्टिकर्ता ईश्वरसे क्या सम्बन्ध है और उसके प्रति मनुष्यका कर्तव्य क्या है—यह स्पष्ट करनेका काम अध्यात्मका है। मनुष्यके पारस्परिक व्यवहार सदा एकसे नहीं होते; पारस्परिक सम्बन्धानुसार व्यवहारके नियम होते हैं। उदाहरणार्थ :—राजा—प्रजा, अड़ोसी—पड़ोसी, स्वामी—सेवक, पिता—पुत्र, पति—पत्नी इनके पारस्परिक कर्तव्य उनके विवक्षित सम्बन्धके अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। अस्तु, दूसरोंको कष्ट न देते हुए जिन नियमों-द्वारा मनुष्यमात्र सुख, सम्पत्ति और शांतताका उपभोग करते हैं उसे ही नीति समझना चाहिए।

श्रीएकनाथने अपने ग्रन्थोंमें अध्यात्म और नीति दोनोंका बड़ा सुन्दर विवेचन किया है।

एकनाथ अद्वैत मतके अनुयायी थे इसलिए इनके अध्यात्म ग्रन्थोंमें व अभिज्ञानमें इसका पर्याप्त विवेचन किया गया है। उन्होंने ईश्वर, उसे जाननेके मार्ग, बाह्य पवित्रता, अन्तःकरणशुद्धि, नामस्मरण, इन्द्रिय-निग्रह, मनुष्योंका पारस्परिक व्यवहार व अन्य बातोंका विवेचन भी किया है। एकनाथके अध्यात्मविषयक ग्रन्थोंमें ‘ भागवत और स्वात्मसुख ’ अधिक महत्त्वके ग्रन्थ हैं। भागवतमें ईश्वरका निरूपण इस प्रकार किया गया है :—

“श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं । मेरा स्वरूप अद्वैत समझो । मैं नाम, गुण, वर्ण इत्यादि नाना विभूतियोंसे रहित हूँ । ये सब मिथ्या हैं । मैं नित्य हूँ । मैं सदा एकरस रहता हूँ और मुझसे किसी प्रकारका विकार नहीं होता । मेरे स्वरूपको पहचाननेकी गति न बुद्धि, मन व वाणीकी है । इन्द्रियाँ बेचारी तो बुद्धि व मनकी चेरी हैं । वे इस प्राणाधारको कैसे समझ सकती हैं ! ”

माझें स्वरूप अद्वैत जाण । नाहीं नांव गुण वर्ण ।

तेथें नाना विभूति लक्षण । मिथ्या जाण वाचिकां ॥

माझें स्वरूप नित्य निर्विकार । मन बुद्धि वाचा न कळे पार ।

तेथें इन्द्रियें बापुडों किकर । प्राणनिधि कें नेणे ॥

“ ईश्वर सब ब्रह्माण्डमें ओतप्रोत भरा हुआ है । कोई अणु ऐसा नहीं जिसमें ईश्वर न हो । जीव व ईश्वर, गुण व गुणी, क्षेत्र व क्षेत्रज्ञ मैं ही हूँ । मैं ही सबकी आत्मा हूँ और सर्वव्यापी हूँ । चिन्मात्र भी मैं ही हूँ । ”

मजवेगळा अणु प्रमाण । सर्वथा जाण असेना ।

जीव आणि ईश्वर । गुणी आणि गुणावतार ।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ निर्धार । सर्वही साचार मीचि मी ।]

मजवेगळा गा अणुमात्र । उरलें नाहीं स्वतंत्र ।

मी सर्वात्मा सर्वो सर्वत्र । केवळ चिन्मात्र तेंहि मी ॥

मजवेगळें गा येथें कांहीं । उद्धवा आतां उरलेचि नाहीं ।

सर्व साधारण पाहीं । सर्व देहीं मी असें ।

उपरोक्त ओवियोंमें “ एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म ” इस सिद्धान्तको कैसी सुन्दरतासे व्यक्त किया गया है !

आगे एकनाथने जीव व ब्रह्मकी एकता स्थापित करनेके अन्य दृष्टान्त दिए हैं और मायाका भी विवेचन किया है । वे लिखते हैं कि :—

“ब्रह्म माया अथवा अज्ञानके आवरणसे आच्छन्न होनेके कारण जीवकी उपाधि प्राप्त कर लेता है। वास्तवमें जीव और ब्रह्मका संबन्ध उसी प्रकारका है जैसे लहर और समुद्रके पानीका। हवाके चलनेसे लहरें उठती हैं; परन्तु जब हवाका चलना बन्द हो जाता है तो लहरें भी शेष नहीं रहती। इसी प्रकार जब माया किंवा अविद्याका आवरण हट जाता है तो जीव व ब्रह्ममें कोई भेद नहीं रहता। सृष्टिमें जो वस्तु है वह सब ब्रह्ममय है। कोई पदार्थ अथवा स्थान ब्रह्मसे रिक्त नहीं। वैकुण्ठ, कैलास, तीर्थ सब जगह अनन्त ब्रह्म समाया हुआ है। इस ब्रह्मका न आदि है, न मध्य और न अन्त ही। ब्रह्म सब कालमें एकरस है। ब्रह्म एक है। एकसे अनेक हो जाता है और फिर भी एक है :—

कल्पना अविद्या तेणें झाला जीव । मायोपाधी शीव बोलीजे तो ॥ १ ॥

जीव शीव दोन्हीं हरिरूप तरंग । सिंधु तो अभंग नेणें हरी ॥ २ ॥

जे जे दृष्टि दीसे तें तें हरिरूप । तयावीण ठाव रीता कोठें ॥ ३ ॥

वैकुण्ठ कैलासीं तीर्थ क्षेत्रीं देव । अनंतासी अंत पाहतां नाहीं ॥ ४ ॥

आदि मध्य अंतीं अवघा हरी एक । एकची अनेक एक हरी ॥ ५ ॥

तुलसीदासने भी ईश्वर व जीवके अंतरका कारण मायाको बताया है। वे जीवको ईश्वरका अंश मानते हैं जो चेतन, शुद्ध व आनन्दमय होते हुए भी मायाके वश होकर अपनेको बद्ध समझता है।

ईश्वर अंश जीव अविनासी । चेतन अमल सहज सुखरासी ॥

सो मायावश भयउ गुसाईं । बंध्यो कीर मरकटकी नाईं ॥

जिस भावको एकनाथने ‘जीव शीव दोन्हीं हरि रूप तरंग । सिंधु तो अभंग नेणें हरी।’ से प्रकट किया है उसे तुलसीदासने ‘गिरा अर्थ जल बीचिसम, कहियत भिन्न न भिन्न।’ से प्रदर्शित किया है।

ज्ञानेश्वरने इसी भावको यों स्पष्ट किया है :—

“जिस प्रकार हवाके जोरसे पानी हिलता है और उसमें तरंगें उठती हैं, तो इसमें कोई नई वस्तु उत्पन्न नहीं होती; उसी प्रकार जब हवाका चलना बन्द हो जाता है तो पानी फिर स्थिर हो जाता है और इसम किसी वस्तुका नाश नहीं होता।”

जैसे पवनें तोय हालविलें । आणि तरंगाकार जाहलें ।

तरी कवण कें जन्मलें । म्हणोंये तेथ ? (ओवी १०६ ज्ञानेश्वरी अ० २)

तेंचि वायूचें स्फुरण ठेलें । आणि उदक सहज सपाट जाहलें ।

तरी आतां काय निमालें । विचारों पां ॥ (१०७ ज्ञानेश्वरी अ० २)

जगतका मिथ्यापन बतलानेके लिए एकनाथ लिखते हैं :—

“अंधेरेमें पड़ी हुई डोरीको देखकर साँपका भ्रम होता है और हृदय डरसे धड़कने व शरीर काँपने लगता है और हम भाग जानेका प्रयत्न करते हैं; परन्तु यदि दीपक लाया जाय तो यह निश्चय हो जाता है कि यह डोरी है और साँपका भ्रम नष्ट हो जाता है; उसी प्रकार माया व अज्ञानके योगसे हम ब्रह्माकी जगह संसार व उसके प्रपञ्चको सत्य और विषय-प्राप्तिको आनन्द समझ बैठते हैं । यदि विषयप्राप्तिमें कोई हानि अथवा बाधा हुई तो दुःख अनुभव करते हैं । इस संसर्गसे देहाभिमान उत्पन्न होता है; यह आत्मज्ञान वेद व शास्त्रोंमें श्रद्धा, श्रवण, मनन, अभ्यास व स्वानुभव द्वारा प्राप्त होता है ।” आत्म-ज्ञानरूपी दीप ज्ञानी पुरुषके अंतःकरणमें प्रज्वलित होते ही प्रकाश हो जाता है और अज्ञानांधकार नष्ट हो जाता है । फिर उसे सब जगह ब्रह्ममय दिखाई देने लगती है ।

वेद शास्त्र परि निष्ठित । श्रवण मनन अभ्यास युक्त ।

ज्यासी ब्रह्मविद्या प्राप्त । सुनिश्चित स्वानुभवे ॥

तोचि अनुभव ऐसा । दोरा अंगों सर्पू जैसा ।

न मारितां मरे अपैसा । भव भ्रम तैसा ज्या नाही ॥

तुलसीदासने संसारकी असत्यताको सीपमें चान्दीके आभास व मृगतृष्णा एवं रस्सीमें सर्पके आभासके दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया * :—

रजत सीप महँ भास जिमि, यथा भानुकर बारि ।

यदपि मृषा तिहुंकाल सोइ, भ्रम न सकै कोइ टारि ।

बूड्यो मृगवारि, खायो जेवरीको साँपरे ।

झूटौ सत्य जाहि बिनु जाने ।

जिमि भुजंग बिन रजु पहिचाने ।

जिस भावको तुलसीदासने ' भानुकर बारि'से व्यक्त किया है उसे ज्ञानेश्वरने रोहिणीके जलसे स्पष्ट किया है। आगे तुलसीदासने जिस भावको ' रंक नाकपति होइ 'से दर्शाया है उसे ज्ञानेश्वरने ' भद्र जाति'से व्यक्त किया है ।

हे विषय तरी कैसे । रोहिणीचें जळ जेंसें ।

कां स्वप्नींचा आभासे । भद्रजाति ॥ (१०१ ज्ञानेश्वरी अ० २)

एकनाथने संसारकी असत्यता प्रमाणित करनेके लिये एक और दृष्टान्त दिया है । वे कहते हैं कि 'जिस तरह नटके खेलमें राजा व रानी वास्तविक नहीं होते उसी प्रकार पुरुष व प्रकृति दोनोंके खेल मिथ्या हैं अथवा यों समझो कि स्वप्नमें कोई यह देखता है कि मैं राजा हो गया हूँ; परन्तु जागनेपर वह मनुष्य अपनेमें कोई परिवर्तन नहीं पाता । उसी प्रकार जीवकी हैसियतसे जो जो कर्म किए जाते हैं उनको मिथ्या ही समझना चाहिए ।

जैविं नटाची रावो राणी । दोघें खेळती लटकेपणीं ।

तेविं प्रकृति पुरुष उभउनी । मिथ्यापणीं जो जाणे ।

स्वप्नींचीं नाना कर्म जाण । त्यांचें जागृतीं न लगे बंधन ।

तेविं मिथ्या निजकर्माचरण । जीवित्वेंशीं जाण जो देखो ॥

एकनाथने जिस भावको " स्वप्नींचीं नाना कर्म जाण । त्यांचें जागृतीं न लगे बंधन । " से प्रगट किया है उसे ज्ञानेश्वरने नीचेकी ओवीसे व्यक्त किया है :—

जेंसें स्वप्नामाजीं देखिजे । तें स्वप्नींचि साच आपजे ।

मग चेऊनियां पाहिजे । तंव कांहीं नाहीं ॥ (ज्ञानेश्वरी १३८ अ० २)

तुलसीदासने भी संसारको स्वप्नवत् बताया है । वे कहते हैं कि :—

' यदि सपनेमें कोई अपना सिर काटे तो बिना जागे इसकी वेदना दूर नहीं होती । सपनेमें भिखारी राजा बनता है अथवा नाकपति भिखारी हो जाता है; परन्तु जागनेपर न भिखारीको वस्तुतः लाभ हुआ और न नाकपतिको हानि । संसारके प्रपंचको इसी प्रकार समझना चाहिए ।

नट विविध वेष धारण करके नाचता है और भिन्नभिन्न भाव दिखाता है; परन्तु उसके वास्तविक स्वरूपमें कोई परिवर्तन नहीं होता ।’

ज्यों सपने सिर काटे कोई । बिनु जागे दुख दूरि न होई ॥

सपने होइ भिखारि नृप, रंक नाकपति होइ ।

जागे लाभ न हानि कछु, तिमि प्रपञ्च जिय जोइ ।

जथा अनक वेष धरि नृत्य करइ नट कोइ ।

सोइ सोइ भाव देखा वइ आपुन होइ न सोइ ॥

जिस भावको एकनाथने “ जेंवि नटाची रावो राणी । दोघें खेळती लटकेपणीं ।” से व्यक्त किया है उसे तुलसीदासने “ जथा अनेक वेष धरि नृत्य करइ नट कोइ ।” से स्पष्ट किया है ।

स्वात्मसुख ग्रन्थमें उपरोक्त कथन बड़ी खूबीसे स्पष्ट किया गया है । एकनाथमहाराज कहते हैं :—

“ जिस प्रकार सूर्यकी किरण सूर्यके आगे दौड़ती है और सूर्यके प्रकाशका अधिकाधिक आभास देती है, चन्दनकी सुगन्ध चन्दनसे अधिक सुन्दर होती है, चाँदनी चन्द्रमासे आगे दौड़कर प्रकाश देती है, उसी प्रकार यह चराचर उस चित्स्वरूपका प्रकाश है। जो मनुष्य इन बाह्य-स्वरूपोंमें व्याप्त ब्रह्मको नहीं देखता है वह मृगतृष्णाकी भाँति भूला हुआ है। जैसे कोई मनुष्य मोतियोंके आभूषणोंको प्रत्येक अंगमें पहन लेता है और सुन्दर दिखाई देता है उसी प्रकार यह सब चराचर उस निर्विकार ब्रह्मके मनोहर आभूषण है। स्वर्ण और आभूषणमें द्वैतभाव कहाँ है ? प्रकट देखनेमें भी कंकण सोनेका ही दिखाई देता है। जिस प्रकार किसी वस्त्रको देखते समय धागे ही दिखाई देते हैं उसी प्रकार सारी सृष्टिको देखनेसे ब्रह्मस्वरूप ही भासमान होता है।

जैसे सूर्याचे किरण । सूर्यापुढें धांवती आपण ।

तेणें प्रकाशे सूर्यपण । अधिकाधिक ॥

कां चंदनाचा वास । चंदनाहूनि चौपस ।

धांवे तेणें अधिक प्रकाश । चंदनत्वा आणी ॥

तैसैं विश्व प्रकाश तया गभस्ती ।
 त्याचीं किरणें त्या त्या नाना व्यक्ति ।
 तेथें नास्तिकता जे देखती । ते मूर्ख मृगतृष्णिका ।
 हो कां चिद्रत्नाची कीळ । ते हें चराचर सकळ ।
 ऐसैं नेणती ते समूळ । पटल दृष्टी ॥
 मोत्यांचीं करुनियां भूषणें । अंगीं प्रत्यंगीं लेणें ।
 बाणलिया सुंदरपणें । शोभे स्वयें ॥
 तैसैं हें स्वरूप निर्विकार । त्याचें सर्वांग भूषण चराचर ।
 तेणें अलंकारलें मनोहर । स्वरूपचि भासे ॥
 सुवर्ण आणि भूषण । तेथें काय आहे दोन्हींपण ।
 प्रकट पाहतांही कांकण । सोनेंचि दिसे ॥
 सौधपट पाहतां दृष्टि । तंतूसीच होय भेटी ।
 तैसी अवलोकितां सकल सृष्टि । स्वरूपची भासे ॥

एकनाथमहाराज कहते हैं कि सर्वव्यापक परमेश्वर अखिल
 ब्रह्माण्डमें ओतप्रोत भरा हुआ है । जो परमेश्वर अन्तर्बाह्य व्याप्त है और
 जो जगतका उत्पादक है उसे तलाश करनेके लिए लोग भटकते फिरते हैं ।
 परमात्मा अत्यन्त निकट है यह न जानकर मनुष्य व्रत और तपस्या करते
 हैं । वे उस परमात्माकी तलाशमें तीर्थयात्रा करके व्यर्थ ही अपने शरीरको
 कष्ट देते हैं । यह कैसी भूल है ! क्या परमेश्वरसे रहित कोई भी पदार्थ है ?
 राम तो प्रत्येक वस्तुमें रम रहा है । उसे ढूँढनेके लिए वृन्दावन जानेकी
 ज़रूरत नहीं है । वह तो तुलसीकी मूल, डाल व पत्ते सबमें मौजूद है । उसे
 तलाश करनेके लिए कहीं जानेकी आवश्यकता नहीं है । भगवान् भक्तिसे
 जहाँ चाहो प्रकट हो सकते हैं । यदि भावना हो तो तुलसीमें कृष्णके दर्शन
 हो सकते हैं ।

राम जवळी चूकले । व्रतें तपें भावावलें ॥
 तीर्थी नाहीं क्षेत्रीं नाहीं । जवळीं असतां भांती पाही ॥
 जयालागीं सैरा हिंडे । तोचि तया मागें पुढें ॥
 असतां सबाह्य अंतरीं । नाहीं म्हणोनि दैन्य करी ।

एका जनार्दन योगें । राम होय जगचि अंगें ॥
 पाहूं गेलों तुलसीबन । वृंदावनीं जनार्दन ॥
 मूळ डाल पाहतां पान । तुलसीवास जनार्दन ॥
 तुलसीबावें कोठें जावों । तुलसीमाजी जनार्दन ॥
 एका जनार्दनीं भावो । तुलसी झाला कृष्णरावो ॥

इस अभंगमें 'यह दृश्यमान जगत् ब्रह्म है।' इस सिद्धान्तका कितनी युक्तिके साथ प्रतिपादन किया गया है ! कबीरदासने इसी आशयको स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस तरह पुष्पम सुगन्ध मौजूद होती है उसी प्रकार परमात्मा हृदयमें मौजूद है। कस्तूरीके मृगकी भाँति मनुष्य परमात्माकी तलाशके लिए इधर-उधर भटकता फिरता है। यद्यपि कस्तूरी मृगकी नाभिमें होती है; परन्तु वह इधर-उधर घासको ढूँढ़ता फिरता है कि यह सुगन्ध कहाँसे आ रही है।

तेरा साईं तुझमें, ज्यों पुहपनमें बास ।
 कस्तूरीका मिरग ज्यों, फिर फिर ढूँढ़ घास ॥

तुलसीदासने विनय-पत्रिकामें इसी भावको व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि 'नाथ ! आपको अपने हृदय-कमलमें छोड़कर जो मैं बाहर इधर-उधर अनेक साधनोंमें व्याकुल होकर दौड़ता फिरा, इसीसे मैंने ज्ञान खो दिया ! जैसे महान् मूर्ख मृग अपने ही शरीरमें सुन्दर कस्तूरीका भेद नहीं समझता, और पहाड़, पेड़, लता, पृथ्वी और बिलोंमें ढूँढ़ता फिरता है कि यह सुन्दर सुगन्ध कहाँसे आ रही है; उसी प्रकार मैं इधर-उधर सुखके लिए दौड़ रहा हूँ, यद्यपि अखंड आनन्दस्वरूप परमात्मा मेरे हृदयहीमें निवास कर रहा है।

याहितें मैं हरि ! ग्यान गँवायो ।

परिहर हृदय-कमल रघुनार्थाहि, बाहर फिरत बिकल भयो धायो ।

ज्यों कुरंग निज अंग रुचिर मद, अति मतिहीन मरम नहि पायो ।

खोजत गिरि, तर लता, भूमि, बिल परम सुगंध कहाँ धौं आयो ।

जिस भावको एकनाथने 'व्रतें तपें भावावले । तीर्थी नाहीं क्षेत्रीं नाहीं । जयालागीं सैरा हिंडे ।' से व्यक्त किया है उसे तुलसीदासने 'बाहर फिरत बिकल भयो धायो ।' से प्रदर्शित किया है।

सगुण व निर्गुण

मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे अगोचर ईश्वरका ज्ञान साधारण मनुष्योंकी समझसे बाहर है। उनके सामने तो ईश्वरका प्रतीक होना चाहिए। सफ़ेदीकी कल्पना देनेके लिए दूध, सफ़ेद फूल, चूना अथवा किसी दूसरी सफ़ेद वस्तुको प्रस्तुत किया जाता है; उसी प्रकार सामान्य जीवोंको निर्गुणका बोध करानेके लिए प्रतिमा पूजनेके अतिरिक्त दूसरा मार्गही नहीं है। वेदान्तने भी प्राकृतिक प्रतीक सूर्य, चन्द्र, वरुण, उषा, इन्द्र इत्यादिसे अमूर्त ईश्वरकी कल्पना दिलाई है। सगुणकी निर्मल व निश्चल उपासनासे निर्गुणका बोध होता है। नाथमहाराजने भागवतमें स्पष्ट किया है कि 'यथारुचि व यथाधिकार ईश्वरकी सगुण मूर्ति अथवा निर्गुण स्वरूपको भजना चाहिए।' भगवान श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं कि 'मेरा स्वरूप निर्गुण है और सगुण भी है। निर्गुण और सगुण दोनोंको एकही समझना चाहिए। सगुण व निर्गुण बराबर हैं।'।

माझे स्वरूप निज निर्गुण । अथवा वैकुण्ठोंचें सगुण ।

दोन्हीं एकचि निश्चयें जाण । सगुण निर्गुण सम साम्य ॥

तुलसीदासने भी ईश्वरका ऐसाही निरूपण किया है। महादेवजी पार्वतीसे कहते हैं कि 'वेद, पुराण, विद्वानों और मुनियोंका यही मत है कि सगुण और निर्गुणमें कोई भेद नहीं है। निर्गुण, अजन्मा और अलक्ष ईश्वर भक्तके प्रेमके कारण सगुण रूप धारण कर लेता है।'।

सगुणहिं अगुणहिं नाहिं कछु भेदा । गावाहिं मुनि पुराण बुध वेदा ।

अगुण अरूप अलख अज जोई । भगत प्रेमवस सगुन सो होई ।

नाथमहाराज कहते हैं कि 'ईश्वरके सगुण और निर्गुणरूप आपसमें एक दूसरेसे इस प्रकार अभिन्न हैं जिस तरह पिघला हुआ घी और जमा हुआ घी दोनों एकही पदार्थ हैं; परन्तु जमे हुए घीको खानेमें अधिक मज़ा आता है। इसी प्रकार निर्गुण सगुण एक होते हुए भी सगुण भजन अधिक सरस है।

बिघुरले तें तूप होये । थिजलें त्यापरीस गोड आहे ।

निर्गुण मन, बुद्धि और वाणीसे अगम्य है। इसलिए उसका जानना कठिन है। निर्गुणके जाननेके लिए वेद मौन और शास्त्र अशक्य हैं; परन्तु सगुण मूर्ति सुलभ और सुन्दर है। उसे देखते ही भूख-प्यास मारी जाती है और मन ईश्वरप्रेममें मग्न हो जाता है।

निर्गुणाचा बोध कठिन । मन बुद्धिवाचें अगम्य जाण ।

शास्त्रांसी न कळे ऊण खूण । वेदीं मौन धरियलें ॥

तेंसी सगुण मूर्ति नव्हे जाण । सुलभ आणि सुलक्षण ।

देखतां जाय भूक तहान । निवताहे मन सप्रेम ॥

एकनाथने निर्गुण और सगुणकी एकता स्थापित करनेके लिए पिघले हुए और जमे हुए घीका उदाहरण दिया है। तुलसीदासने निर्गुण और सगुणकी एकता बतानेके लिए जल और ओलेका दृष्टान्त दिया है।

जो गुण रहित सगुण सोइ कैसे । जलहिम उपल विलग नहिं जैसे ।

मौलवी शेख चाँदसाहबने एकनाथके जीवनचरित्रमें लिखा है कि 'एकनाथने मूर्तिपूजाकी निन्दा की है।' ऐसी ही धारणा कुछ अन्य लोगोंकी है; परन्तु एकनाथ मूर्तिपूजामें विश्वास करते थे। पैठणमें आजभी विठ्ठलकी वह मूर्ति मौजूद है जिसके सामने वे कीर्तन करते थे। इस मूर्तिकी सेवा वे अन्ततक करते रहे। इससे यह सिद्ध होता है कि एकनाथ मूर्तिपूजक थे और मौलवी शेख चाँदका उपरोक्त कथन भ्रममूलक है।

नाथ कहते हैं कि 'अपने हृदयमें जो चैतन्यस्वरूप परमात्मा है उसे मूर्तिमें आवाहन करे, फिर पूजाके पश्चात् इसका विसर्जन करे और परमात्माको हृदयमें स्थापित कर ले।'।

आपुले हृदयींचा चिद्धन । मूर्तीमाजी कीजे आवाहन ।

पूजान्तीं करुनि विसर्जन । हृदयीं जाण ठेवावा ॥

नाथने विस्तारपूर्वक लिखा है कि मूर्ति कैसी होनी चाहिए। वे लिखते हैं कि 'पूजा अथवा ध्यानके लिए भगवानकी सुन्दर मूर्ति बनाई जाय जो पुष्ट व हंसमुख हो। कोई अङ्ग कम न हो। सुन्दर चिह्नों

और आयुधोंसे शोभित हो, जिसे देखतेही तन-मन शांत हो जाय । दृष्टि पड़तेही भूख-प्यास शेष न रहे । मूर्ति अत्यन्त प्रसन्नवदन, कृपालु और सुकुमार हो, जिसे देखतेही चित्त आकर्षित हो और सबकोही मूर्ति पसंद आए और अंग पुलकित हो उठे ।’

मूर्ति साजिरी सुनयन । सम सपोस सुप्रसन्न ।
अंगीं प्रत्यंगीं नव्हे न्यून । सुचिह्न सुलक्षण सायुध ।
पाहतां निवे तन-मन । देखतां जाय भूक-तहान ।
घवघवीत प्रसन्न वदन । कृपाले क्षण सुकुमार ।

जे देखतांचि जीवीं जडे । अतिशयें सर्वासी आवडे ।
पाहों जातां निजनिवाडे । पुर चढे प्रेमाचा ॥

भागवत, अ० ११ ओ० १२८३-६०

नाथने अपना अनुभव भी कहा है कि ‘ भक्तोंकी प्रार्थना स्वीकार करके पाषाण-प्रतिमासे ईश्वर प्रगट होता है ।’

आतां ही प्रत्यक्ष प्रमाण । दासाचेनि वचनें जाण ।
पाषाण-प्रतिमे देवो आपण । आनंदघन प्रगटे पै ॥

मूर्तिपूजाके संबन्धमें एकनाथके विचार शुद्ध और नीतिके अनुसार हैं । मुर्गी अथवा बकरीको मारकर उनका नैवेद्य सिन्दूरिन (शेंदरी) देवताओंके अर्पण करनेकी जो धिनौनी और जीव-हिंसक प्रथा बहुत-सी जातियोंमें है उसको वे अत्यन्त निन्द्य समझते थे । वे कहते हैं कि ये जातियाँ पत्थर-कंकड़ोंको बड़ेबड़े देवता समझकर पूजा करती हैं । इनके ये कृत्य अन्तमें इन्हें कष्टदायक होते हैं । जिन्दा जीवकी हत्या करके ये पत्थरोंको नैवेद्य चढ़ाते हैं । रांडों और लुच्चोंकी भीड़ इकट्ठी होती है और इनमेंसे किसीके सिरपर देवता आता है । ये लोग इन देवताओंके सामने नाक रगड़ते हैं कि ‘ हम पापी हैं । हमारी रक्षा करो ।’ एकनाथ कहते हैं कि ‘यह सब मूर्खपना है । इसमें मत भूलो ।’

म्हणती देव मोठे मोठे । पूजताती दगडगोटे ॥ १ ॥
कष्ट नेणती भोगिती । वहा वहा दगडासी म्हणती ॥ २ ॥

जीत जिवा करुनि वध । दगडा दाबिती नैवेद्य ॥ ३ ॥	
रांडा पोरें मेळ झाला । एक म्हणती देव आला ॥ ४ ॥	
नाक घासुनी गव्हार । देवा म्हणती गुन्हेगार ॥ ५ ॥	
एका जनार्दन म्हणे । जन भुलले मूर्खपणें ॥ ६ ॥	

इस अभंगसे यह सिद्ध होता है कि पशुहिंसा एकनाथको बड़ी खटकती थी जिनके आचरण अत्यन्त निंद्य हैं, जिनके काम सदा स्वार्थयुक्त और जिनके मनमें सदा द्वैतभाव होता है उनके अन्तःकरणमें आत्मस्वरूपके कभी दर्शन नहीं होते। नाथमहाराजका यह मत है कि 'यह समझनेवाले बिल्कुल मूर्ख हैं कि मनुष्य कितने ही दुराचार करे, सैकड़ों मनुष्योंकी गर्दन काटे, मरणपर्यंत विषयभोग भोगे; फिर भी देवताके सामने नाक घिसनेसे उसके सब पाप माफ हो जायेंगे।'

ईश्वरप्राप्तिके साधन

एकनाथने ईश्वर, जीव व मायाका केवल बौद्धिक विवेचन नहीं किया है वरन् ईश्वरप्राप्तिके साधन भी एक अनुभवी संत व सिद्धकी भाँति बतलाए हैं। वे कहते हैं कि 'ईश्वरप्राप्तिके लिए शम, दम, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि द्वारा मन, बुद्धि, वाणी और इन्द्रियोंको वशमें रखा जाय। प्राणको आत्मामें सन्निवेश किया जाय। वाणीको मेरे नामस्मरणमें लगाया जाय, मनको ईश्वरी ध्यानमें लगाया जाय। इन्द्रियोंका दमन किया जाय। बुद्धिको आत्मविवेकद्वारा वशमें रखा जाय। जीवको परमात्म-सुखमें लगा दिया जाय। ऐसा करनेसे जीव अवश्य ही ईश्वरत्वको प्राप्त करता है।'

यालागीं शमदमाच्या अनुक्रमीं । मन बुद्धि वाचा इन्द्रिये नेमीं ।

प्राण नेमूनि प्राण धर्मीं । आत्मारामीं पावशी ॥

वाचा नेमावी माझोनि नामें । मन नेमावें ध्यान-संभ्रमें ।

प्राण नेमावा प्राणायामें । इन्द्रिये दमें नेमावीं ॥

बुद्धि नेमावी आत्मविवेकें । जीव नेमावा परमात्म-सुखें ।

इतक्यानें तूं अवश्यकें । होशि कौतुकें मद्रूप ॥

तुलसीदासने भी ईश्वरप्राप्तिके लिए श्रद्धा, जप, तप, व्रत, यम, नियम और श्रुति अनुरूप शुभ धर्माचारको साधन बताया है ।

सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई । जो हरि-कृपा हृदय बस आई ॥

जप तप व्रत यम नियम अपारा । जे श्रुति कह शुभ धर्म अचारा ॥

सो तृण हरित चरै जब गाई । भाववत्स शिशु पाय पन्हाई ॥

एकनाथमहाराज कहते हैं कि महात्मा पुरुष इस चंचल मनरूपी घोड़ेको विवेकके कोड़े मारकर काबूमें रखते हैं । मन जब इधर-उधर भटकने लगे तो विवेकद्वारा उसे वशमें लाया जाय । मन यदि अधर्मकी तरफ़ दौड़े तो विवेक उसे धर्मकी ओर हांकलाए । यदि मन, काम, क्रोधकी तरफ़ भागे तो विवेक उसे केश पकड़कर खींच लाए । यदि मन निन्दाकी तरफ़ निकले तो विवेक उसे पकड़ ले । यदि मन विषयकी स्वतंत्रता चाहे तो विवेक वैराग्यकी लकड़ीसे उसे मारकर रोक रखे । यदि मन कल्पनाकी तरफ़ दौड़े तो विवेक, अविवेकी मनके केश पकड़कर काबूमें रखे । यदि परस्त्री व परधनकी ओर मन दौड़े तो विवेक-युद्धद्वारा उसकी हत्या करके उसे अपने वशमें कर ले । ऐसा मन व विवेकका झगड़ा सद्गुरुके समक्ष आया । उन्होंने इसका तस्फ़िया करनेके लिए अद्वैत-वाड़ेमें बन्द कर दिया ।

मन जेथें विकल्पूं धांवे । तेथें महामारी विवेकु फावे ।

मन जेथें अधर्मी भवे । तेथें विवेक धांवे हाकितूं ॥

मन जाय काम क्रोधापाशीं । विवेक धरुनि वोढी केशीं ।

मन रिघतां निंदेपाशीं । विवेक त्याशीं बुकली ।

मन म्हणे विषय सुटी । विवेक हाणे वैराग्यकाठी ।

मन धांवतां कल्पनेपाठीं । विवेक उठाउठी झोटी धरी ॥

परदारा परधन । अभिलाषूं धांवे मन ।

तेथेंही विवेक पावोन । रणकंदन आरंभी ॥

ऐसा मन-विवेकाचा झगडा । गा-हाणें आलें सद्गुरुपुढां ।

तेणें करावया निजनिवाडा । अद्वैत-वाडा कोडिले ॥

गीतामें अर्जुनने जब श्रीकृष्णसे यह प्रश्न किया कि

चंचलं हि मनः कृष्ण, प्रमाथि बलवद्दृढम् ।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्कृतम् ॥

तो श्रीकृष्णने यही उत्तर दिया कि 'अभ्यास और वैराग्यसे मनको वशमें किया जा सकता है।' एकनाथने इसीका बड़ा बोधप्रद व विस्तृत विवेचन किया है। उन्होंने दैनिक अनुभवोंद्वारा मनको वश करनेका उपाय बताया है। "प्रत्येक प्राणी यदि अपने मनको इस प्रकार स्वाधीन कर ले और जब जब मनरूपी पक्षी परधन व परकान्ताको प्राप्त करनेके लिए वेगसे उड़े तब तब विवेकरूपी शस्त्रसे उसके पंख तोड़ दिए जायँ तो इस संसारमें दुराचरण, अनीति और अनाचार रहनेही न पायेंगे। फिर तो प्रत्येक घर, कुटुम्ब, देश एवं राष्ट्रमें शांतता और आनन्दका राज्य स्थापित हो जायगा।"

नाथमहाराजके ग्रन्थोंमें धर्म और नीतिकी अविरत धारा बह रही है। यहाँतक कि भावार्थ रामायणके युद्धकाण्डमें भी इसकी झलक दिखाई देती है। कनक, कान्ता व कादम्बरी (मद्य) इन तीनोंने मनुष्यमात्रको अपने वशीभूत कर रखा है। देवताओंके राजा इन्द्र अप्सराओंको अपने साथ विमानमें लेकर आकाशमें विहार कर रहे हैं। यह देखकर हनुमानजी कहते हैं :—

"जो स्त्रीके प्रेममें फँस गया है, जो मद्य पीनेमें मतवाला हो गया है और जो धनके लोभमें पड़ गया है उसका विवेक बाक़ी नहीं रहता। जो मनुष्य वेश्यागामी होते हैं वे सदा उन्मत्तकी भाँति आचरण करते हैं। उन्हें स्वार्थ और परमार्थका ज्ञान नहीं होता। वे स्वेच्छाचारी गधेकी तरह आचरण करते हैं। मद्यपान करनेवाला मनुष्य अपनी संपत्ति नष्ट कर देता है और संसारमें निन्द्य होता है। जो मनुष्य धन नष्ट करके मद्यपान करते हैं वे अपनी आत्माका नाश करते हैं और कल्पभर नरक-वास करते हैं। धनके जो मतवाले हैं उन्हें स्वप्नमें भी सुख नहीं मिल सकता। वे ऐसे दुर्लभ शरीरको—जो मोक्षका साधन है—बूथा कष्ट

देते हैं। ये लोग कष्टसे कमाई हुई संपत्तिको बड़ी हिफाजतसे रखते हैं और धूल-मिट्टी खाकर मरते हैं। कणक, कान्ता और कादम्बरीमेंसे एक ही इतना बलिष्ठ है कि उससे मनुष्य नाशको प्राप्त होता है। फिर जहाँ ये तीनों मिलते हैं वहाँ दुःखका क्या ठिकाना है !

जो स्त्रीसर्वे निरत जाला । मद्यप्राशनीं मातला ॥
जो धनलोभें भुलला । त्याचा गेला विवेक ॥ १०८ ॥
वेश्यागमनीं जे रत । ते सर्वदा अति उन्मत्त ॥
नाठवे स्वार्थ-परमार्थ । स्वेच्छा विचरत खर-जैसे ॥ १०९ ॥
स्त्रीकामाची ऐसी रीती । ऐका मद्यप्यांची स्थिती ॥
वेंचून पदरींची संपत्ती । स्वयें होती जगनिष्ठ ॥ ११४ ॥
वेंचूनियां ऐसें धन । करिताती मद्यपान ॥
ते निजात्मघाती संपूर्ण । नरकसेवन आकल्प ॥ ११६ ॥
धनलोभी जे लुब्धक । स्वप्नीं न देखती सुख ॥
दुर्लभ शरीर वृथा कष्टविलें । जेणें फळे निजमोक्ष ॥ ११९ ॥
कष्टें जोडिली संपत्ती । ते ठेवितो अति निगुती ॥
तोडीं दगड माती घालितो । आपण मरतो धुळी खात ॥ १२४ ॥
ऐसी एक-एकाची जाती । अधःपाता स्वयें नेती ॥
तिन्हीं एकत्र जेथें मिळती । तें दुःख किती सांगावें ? ॥ १२५ ॥

उपरोक्त उदाहरणमें गीताके इस श्लोककी भलक पाई जाती है :—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

श्रीशंकराचार्यने भी इसी आशयका श्लोक कहा है :—

कामः क्रोधश्च लोभश्च देहे तिष्ठन्ति तस्कराः ।

ज्ञानरत्नापहाराय तस्माज्जागृत जागृत ॥

तुलसीदासकी रामायणमें रामचन्द्रजी लक्ष्मणसे कहते हैं :—

“हे भाई ! काम, क्रोध और लोभ तीन बड़े दुष्ट हैं ! सो ये बड़े बड़ ज्ञानके समुद्र मुनियोंके मनको भी क्षणभरमें डिगा देते हैं। लोभकी सेना

तो इच्छा और पाखण्ड हैं और कामकी सेनामें अकेली स्त्री है और क्रोधक सेनामें कठोर वचन हैं। यही श्रेष्ठ मुनियोंकी विचारी हुई बात है हे लक्ष्मण ! कामदेवकी सेनाको देख जो धीर बने रहें, वे ही संसारमें गिनने योग्य हैं। कामदेवको एक स्त्रीका बड़ा बल है, सो जो स्त्रीसे बचे वही बड़ा वीर है।”

तात तीन अति प्रबल, खल काम क्रोध अरु लोभ ।
 मुनि-विज्ञान-निधान-मन, करहिं निमिष-महँ क्षोभ ॥
 लोभके इच्छा दम्भ बल, कामके केवल नारि ।
 क्रोधके परुष वचन बल, मुनिवर कहहिं विचार ॥
 लक्ष्मण देखहु काम अनीका । रहहिं धीर तिन्हके जगलीका ॥
 यहिके एक परम बल नारी । तेहि ते उबर सुभट सोइ भारा ॥

एकनाथने लक्ष्मीको दुःखका मूल बतलाया है। वे कहते हैं कि ‘लक्ष्मीकी प्राप्तिसे जो सुख होता है उसे केवल दुःख समझना चाहिए। जो सुख मानते हैं और जो लक्ष्मीकी रक्षा करते हैं उनके प्राण नष्ट हो जाते हैं। जो इसकी इच्छा करते हैं वे रणमें नष्ट होते हैं। जो बच जाते हैं उनका जीवन रोते रोते बीतता है। ये हैं लक्ष्मीकी करतूतें !’

लक्ष्मी आलिया जें सुख । सुख नव्हे तें केवळ दुःख ।
 सुख मानिती ते केवळ मूर्ख ।
 प्रतिपाळते प्राणा मुकले । अभिलाषि ते रणीं पडले ।
 उरले ते रडत गेले । लक्ष्मीचें केलें असें आहे ।

अन्यत्र एकनाथ कहते हैं कि ‘जहाँ द्रव्य, स्त्री और ज्ञानका गर्व होता है उसे श्रीरामचन्द्रका महत्त्व स्वप्नमें भी मालूम नहीं हो सकता।’

जेथवरी द्रव्य-दारा-अभिमान । जेथवरी ज्ञान-गर्व गहन ।
 त्यासी श्रीरामाचें महिमान । स्वप्नीं ही जाण लक्षेना ॥

तुलसीदासने इसी आशयको नीचेके दोहेसे प्रकट किया है :—

वे कहते हैं कि 'दूसरोंसे शत्रुता करनेवाले, पराई स्त्रीसे प्रीति करनेवाले, पराये धनपर इच्छा रखनेवाले, दूसरेकी निन्दा करनेवाले ऐसे मनुष्य मानों पामर महापापी मनुष्यका रूप धारण किए हुए दूसरे राक्षस हैं।'

परद्रोही परदार-रत, परधन पर अपवाद ।

ते नर पामर पापमय, देह धरे मनुजाद ॥

एकनाथ कहते हैं ' कि पराई स्त्री और पराया धन जिसके मनको अपवित्र नहीं कहते, गंगादि तीर्थ उसके चरणस्पर्श करनेकी अभिलाषा करते हैं ।'

परदारा आणि परधन । सर्वथा नातळे जयाचें मन ।

गंगादि तीर्थें त्याचें जाण । चरणस्पर्शन वांछिती ॥

तुलसीदासने इसी भावका वर्णन यों किया है। वे कहते हैं ' कि ऐसे संतजन जो सुवर्णको काँचके समान समझते हैं और स्त्रीको काष्ठ या पाषाणके समान समझते हैं, वे ब्रह्मके समान हैं।'

कंचन काचहि सम गनै, कामिनि काष्ठ पषान ।

तुलसी ऐसे संत-जन, पृथिवी ब्रह्म-समान ।

अथवा

कंचनको मृत्तिका करि मानत । कामिनी काष्ठ-शिला पहिचानत ।

तुलसी भूल गयो रस एहा । ते जन प्रकट रामकी देहा ॥

एकनाथके धर्मग्रन्थोंके समान उनके कितनेही अभंग रसाल और बोधप्रद हैं। कृष्णजयन्तीके दिन सायंकालमें पैठणमें नाथमहाराज मन्दिरमें खड़े हुए कीर्तन कर रहे हैं। श्रोता लोग कीर्तनमें निमग्न हैं। एकनाथका ध्यान पाण्डुरंगकी मूर्तिकी तरफ़ लगा हुआ है कीर्तन सुननेके लिए लोगोंकी भीड़ नाथ-मन्दिरकी तरफ़ उमड़ी चली आ रही है। मन्दिरमें तिल धरनेको जगह नहीं है। कुछ लोग वृक्षोंपर चढ़कर कीर्तन सुन रहे हैं। कुछ घरोंकी छतोंपर बैठे सुन रहे हैं। दीपोंकी ज्योतिसे मन्दिर जगमगा रहा है। एकनाथके पीछे उद्धव व केशवकी जोड़ी खड़ी हुई है और मृदंगपर ठेका बज रहा है। कीर्तनके बीचबीचमें हरिनामका गजर चालू है। एकनाथ यह भजन गा रहे हैं।

हे मन! विषयसे प्रेम छोड़ दो। विठ्ठलसे प्रेम कर। आँख खोलकर विठ्ठलके दर्शन कर और विठ्ठलमें ही अपने मनको पूर्णरूपसे लगा दे। जनार्दनकी शरणमें जानेसे मन विठ्ठलको प्राप्त हो जायगा।

अभंग

मन सांडी विषय गोडी । लावी विठ्ठलाची गोडी ॥

विठ्ठल विठ्ठल सांवळा । पाहें उघडाची डोळां ॥

विठ्ठल विठ्ठल निधान । एक मन करी उन्मन

एका जनार्दनीं शरण । मन झालें विठ्ठलपूर्ण ॥

तुलसीदासने एकनाथके इस अभंगसे मिलते हुए भावको विनय-पत्रिकामें यों प्रदर्शित किया है :—

“हे मूर्ख मन ! मेरी शिक्षा सुन। भगवानके चरणोंसे विमुख होकर किसीको सुख नहीं मिला। हे दुष्ट ! अभी सबेरा ही है, अभी कुछ बिगड़ा नहीं है। अब भी भगवानकी शरणमें चला जा। वेदोंने यह सन्देह दूर कर दिया है कि बिना राम-भजन किये विपत्तियोंका नाश नहीं हो सकता। हे तुलसीदास ! इसलिए तू भी सब आशा-भरोसा छोड़कर श्रीरघुनाथजीका अनन्य सेवक हो जा।”

सुन मन मूढ़ ! सिखावन मेरो ।

हरिपद-बिमुख लह्यो न काहु सुख, सठ ! यह समुझ सबेरो ॥ १ ॥

छुटे न बिपति भजे बिनु रघुपति, झुति-सन्देह निबेरो ॥

तुलसीदास सब आस छाँड़कर, होहु राम कर चेरो ॥ ४ ॥

एकनाथने कामवासनाको अत्यन्त बलवान बताया है। जबतक कामको वशमें नहीं किया जाता तबतक ब्रह्मसाधन कठिन ही नहीं, अप्राप्य है। कामदेवने बड़े बड़े देवताओं और राक्षसोंको जिन्हें अपने ज्ञान व पुरुषार्थका घमंड था, नाच नचाया। फिर बेचारे मनुष्यकी गणना ही क्या है ! शंकर-जैसे योगी काम-बाणसे पीड़ित हुए और जब उनकी समाधि भंग होने लगी तो उन्होंने तृतीय नेत्र खोलकर कामदेवको भस्म कर डाला। ब्रह्मा जो सृष्टिका निर्माता है उसे भी अपनी पुत्रीके लावण्यपर मतवाला बना दिया। देवाधिदेव इन्द्रको मदान्ध कर दिया,

जिन्होंने अहिल्याकी अलौकिक सुन्दरतापर मुग्ध हो उसके अधरामृत-पानसे अपने देवत्वको नष्ट किया। चन्द्रमाने भी इसी कामदेवसे पीड़ित हो अपनी गुरुपत्नीके साथ संभोग किया। नारद-जैसे योगी व ऋषिके गर्वको चूर किया। मदनने रावणका सर्वस्व नाश कर दिया। सीता-हरणका परिणाम यह हुआ कि राम-रावण-युद्ध हुआ और उस वंशमें सिवाय विभीषणके कोई न बचा। दुःशासनने द्रौपदीका वस्त्र हरण किया। भीमने अपनी गदासे उसे मारकर उसका रक्त पिया। इसी मदनसे पीड़ित भस्मासुरको मोहनी रूप धारण करके भगवानने भस्म कर दिया। बालि, अपने भाईकी स्त्रीपर मोहित हो गया था। उसे श्रीराम-चन्द्रजीने बाण द्वारा मारकर सुग्रीवको राज्य दिया। विश्वामित्रकी तपस्यासे व्याकुल हो इन्द्रने मेनकाको भेजा। मेनकाके रूपपर मोहित हो विश्वामित्रने अपनी सारी तपस्या नष्ट कर डाली। केवल शुकदेवने अपनी तपस्यासे मदनको व्याकुल कर दिया। जिसने भगवानकी पूर्ण भक्ति की उसके चरणोंपर कामदेव बँधा पड़ा रहता है।

एडका मदन ! तो केवळ पंचानन ॥

धडक मारिली शंकरा । केला ब्रह्माचा मातेरा ।

इन्द्र चंद्रासी दरारा । लाविला जेणें ॥ तो० ॥ १ ॥

धडक मारिली नारदा । केला रावणाचा चेदा ।

दुर्योधना मारिली गदा । घेतला प्राण ॥ तो० ॥ २ ॥

भस्मासुर मुकला प्राणासी । तेचि गती ज्ञाली वालीसी ।

तिसरा विश्वामित्र ऋषी । नाडिला जेणें ॥ तो० ॥ ३ ॥

शुकदेवानें तप करुनी । एडका आणिला आकळुनी ।

एका जनार्दनाचे चरणीं । बांधिला जेणें ॥ तो ॥ ४ ॥

तुलसीदासने भी इस भावको यों प्रकट किया है :—

वे कहते हैं कि 'संसारमें ऐसा कौन-सा मनुष्य है जिसे लक्ष्मीके गर्वने मतवाला नहीं किया, प्रभुताने जिसे उद्वृण्ड नहीं बनाया और मृगनयनीके नेत्ररूपी तीरोंने जिसे व्यथित न किया हो ?

ए. तु...७

‘जहाँ श्रीराम हैं वहाँ कामवासनाएँ नहीं और जहाँ कामवासनाएँ हैं श्रीराम नहीं । ठीक उसी प्रकार, जैसे छाया और धूप एक साथ नहीं रह सकते । कामरूपी सर्प जब किसी मनुष्यको डस लेता है तो विषयरूपी नीब कटुआ नहीं लगता । तुलसीदासजी फिर कहते हैं कि :—

‘स्त्री दीप-शिखाके समान है । अपने मनको स्त्रीकी आसक्तिसे दूर रखो, नहीं तो पतंगकी तरह नष्ट हो जाओगे । इसलिए हे जीव ! काम और गर्वको छोड़कर श्रीरामजीका भजन कर और मतसंग कर ।

श्रीमद वक्र न कीन्ह किहि, प्रभुता बधिर न काहि ।
 भृगनयनीके नयन सर, को असि लागिन जाहि ॥
 जहाँ राम तहँ काम नहि, जहाँ काम नहि राम ।
 एक संग निवसत नहीं, तुलसी छाया धाम ॥
 काम भुजंग डसत जब जाही । विषय नीब कटु लगत न ताही ॥
 दीप-सिखा-सम जुवति-जन-मन जन होसि पतंग ।
 भजहि राम तजि काम मद करहि सदा सत संग ।

श्रीनाथमहाराज भी अपने एक अभंगमें ऐसाही कहते हैं :—

मुझे लोभरूपी सर्पने डस लिया है और स्वार्थरूपी संपत्तिसे मेरे पैर भारी हो गये हैं । आशारूपी तरंगोंने मेरे शरीरको तपा डाला है, मुझे विषयरूपी नीब मीठा लगता है और भजनरूपी मधुर गुड कड़वा लग रहा है । अर्थके नाशसे मेरा गला घुट रहा है । असत्य और अशुद्धिके अजीर्णकी छलकें आ रही हैं । हे गुरुदेव ! दया करके मेरे संतापको शान्त कीजिए और मेरा कल्याण कीजिए ।

लोभ सर्प डंखला कलं काय । स्वार्थ-संपत्तिनें जड जाहला पाय ।
 आशा लहरी तापला माझा देह । तृप्ती वारा घाली वो गुरुमाय ॥
 विषय निब बहु गोडिये आला । भजन गूळ तो मज कडू झाला ।
 वित्तहानीचा गळा झेंडू आला । असत्य अशुद्धाच्या येताती गरळावो ॥

संसारकी असारता

संसारकी असारता और क्षणिकताका वर्णन भी एकनाथने बड़ा सुन्दर किया है। वे कहते हैं कि 'यह सब संसार असार व क्षणिक है। पक्षी आँगनमें दाना चुगनेके लिए आते हैं और चुगकर उड़ जाते हैं। लड़कियाँ बरौंदे बनाती हैं, गुड़ों-गुड़ियोंके विवाह करती हैं और फिर सब खिलौनोंको तोड़ डालती हैं। यात्री आकर किसी वृक्षके नीचे रातको विश्राम लेते हैं और प्रातःकाल होते ही उठकर चले जाते हैं। मार्गमें बहुत-से लोगोंसे भेंट होती है; परन्तु इन लोगोंसे कोई मोह या संबन्ध नहीं जोड़ता। इसी प्रकार जबतक इस संसारमें प्रारब्धानुसार जीवित रहना है तबतक उदासीन व अलिप्त रहना चाहिए।

ऐसें असावें संसारीं । जोंवरी प्राचीनाची दोरी ॥

पक्षी आंगणासी आले । आपला चारा चरोनी गेले ॥

मुली घराचार मांडिला । खेळ मोडोनी टाकिला ॥

वाटसरू वाटां आले । प्रातःकाळीं उठोनि गेले ॥

मार्गी बहु साल भेटले । नाहीं मन तेथें गुंतलें ॥

एका विनवी जनार्दन । ऐसें असतां भय कोणा ॥

(एकनाथ-बाड)

भागवतमें भी इसी आशयकी ओवियाँ हैं जिनमें बतलाया गया है कि 'मार्गमें जैसे दस जगहके लोग आकर मिलते हैं; परन्तु एक दूसरेमें मोह-ममता नहीं रखते बल्कि उदासीन होते हैं उसी प्रकार इस संसारमें हमें माया-जालमें फँसना न चाहिए। रास्तेमें मिले हुए यात्री, जिस तरह अपने-अपने स्थानको अलग-अलग चल देते हैं अथवा नदीके प्रवाहके कारण एक जगह आकर इकट्ठे हुए तृण हवाके भोंकोंसे अलग-अलग होकर बह जाते हैं, इसी प्रकार हम सब संसारमें स्थाई बनकर नहीं आए हैं; बल्कि यह हमारी यात्रामें एक पड़ाव है। इस पड़ावमें एक जगह इकट्ठे होनेवाले माता, पिता, पुत्र, कान्ता, सुहृद, भगिनी इत्यादिमें मन मत फँसाओ और इस अमूल्य नर-तनको नष्ट मत करो जो मोक्षका साधन है, क्योंकि हम सब अपनी-अपनी यात्रापर जानेवाले प्राणी हैं जो दैवयोगसे कुछ कालके लिए एक जगह इकट्ठे हो गए हैं।'

जैसे वृक्षातळीं पांथिक । एकत्र मिळते लक्ष एक ।
 तैसे पुत्र दारा आप्त लोक । सर्व ही क्षणिक संगमू ॥
 उभय नदी प्रवाहेंशीं । काष्ठें मिनलीं संगती जैशीं ।
 सोयरों सर्व जाण तैशीं । हेलाव्यासारशीं फांकती ॥

तुलसीदासने भी इसी भावको यों प्रकट किया है :—

वे कहते हैं कि 'हे मूर्ख जीव ! जाग । संसाररूपी रात्रिमें अपनेको मुक्त करनेका उपाय सोच । अपने शरीर और कुटुम्बियोंके स्नेहमें भूला न पड़ा रह । इनका संबंध बादलोंमें बिजलीके समान क्षणिक है ।'

जागु जागु जीव जड़ । जोहैं जग-जामिनी ।

देह-गेह नेह जानि जैसे धन-वामिनी ॥

कबीरदासने इस भावको इस तरह प्रदर्शित किया है :—

पानी केरा बुदबुदा, अस मानुषकी जात ।

देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा परभात ॥

ऐसा यह संसार है, जैसा सेमर-फूल ।

दिन इसके व्योहारमें, झूठे रंग न भूल ॥

सेवर सुवना सेइया, दुइ ढेंढीकी आस ।

ढेंढी फूटि चटाक दे, सुवना चला निरास ॥

नाथमहाराजने जीवको भगवत-आराधनाके लिए जो चेतावनी दी है उसका भी रसास्वादन कीजिए । नाथमहाराज कहते हैं :—

“इस ऐहिक सुखमें तू क्यों भूल रहा है ? धन और यौवनके जोरमें तूने जगन्निग्रंताको भुला दिया है । परन्तु जिस समय अंतकालमें तेरे पाँचों प्राण निकल रहे होंगे तो तेरी इस विथामें तेरा धन-ऐश्वर्य क्या तेरे काम आएँगे ? जिस समय यमलोकमें तुझे बहुत-सी यातनाएँ भोगनी पड़ेंगी उस समय तेरी कोन रक्षा करेगा ? तेरी अति प्रेमपात्र कामिनी जिसे तू कान्ता शब्दसे संबोधित करता रहा है वह भी तुम्हारे वियोगमें इतना शोक न करेगी जितना अपने केश मुड़वानेके लिए दुःख प्रकट करेगी । माँ-बाप, भाई, नातेदार सब तबतकके साथी हैं जबतक शरीरमें प्राण हैं । इसलिए हे जीव ! संतकी शरणमें जा, जहाँ जानेसे तू जन्म-मरणके चक्रसे छूट सकेगा

अभंग

धन, मान, बलें नाठवीसी देवा ।

मरण-काळीं बा, कोण आहे ॥

यमाचे यमदंड, बसतील लाथा । तेव्हां तुज रक्षीता होईल कोण ॥

सर्वस्व कामीनी, म्हणवीतो कांता । तेही केश देतां रडतसे

माय बाप बंधु, सोयरे तोंवरी । इंद्रियें जोंवरी वाहताती ॥

एका जनार्दनां, संतासि शरण । तुज जन्म-मरण, नाहीं नाहीं ॥

इस भावको कवीरने यों प्रकट किया है :—

इक दिन ऐसा होगया, कोउ काहूका नाहिं ।

घरको नारीको कहै, तनकी नारी नाहिं ।

अरे ! इस शरीरकी कितनी खबरदारी ! इस देहको सुशोभित करनेके लिए नाना प्रकारके वस्त्राभूषणोंसे उसे सजाते हैं । मेरा चेहरा, मेरे नेत्र, मेरे सुन्दर अङ्ग समझकर इनका कितना बनाव-शृङ्गार ! परन्तु वास्तवमें स्थिति बिल्कुल विपरीत है । जब इस हाड़-मांसके पिंजरेसे जीवरूपी हंस उड़ जायगा तो इसको कोई कौड़ीको न पुछेगा । यह देह तृणोंके गूठेके समान है । प्राण निकलनेके बाद यही देह त्याज्य, अस्पर्श्य और भयानक लगती है और चिताकी अग्निमें जलकर मिट्टीमें मिट्टी मिल जाती है ! जिनको यह देह पहले प्राणसे भी अधिक प्रिय थी और जो इस शरीरके माता-पिता हैं वे भी कहने लगते हैं कि चलो, अब ले चलो ! नहीं तो बदबू आने लगेगी !! मुंहपर कपड़ा डाल दो ; नहीं तो बच्चे डर जायेंगे । इतनाही नहीं वरन् देह-सौन्दर्यपर आठों पहर अपना तन, मन, धन अर्पण करनेवाली स्त्री भी स्वप्नमें देखकर 'भूत भूत' करके चीखती और डरने लगती है । जो इतना क्षणभंगुर शरीर है उससे इतनी ममता ! यदि यह शरीर तुम्हारा होता तो तुम्हारी इच्छाके विरुद्ध कैसे अलग हो जाता ? इसलिए देहबुद्धि धारण करनेवाले जीव ! इस शरीरसे प्रीति छोड़ दे और सत्कर्म कर । यह शरीर धर्मसाधनके ही लिए तुम्हें दिया गया है ।

अभंग

माझें माझें म्हणुनी, करितोसी कष्ट । उडाला हंस राहिलें फळकट ॥
 तूणाचें बुजवण, तेंसी देहस्थिति । चिताग्नी जळोनि मीळें मातोसी माती ॥
 बेहाचीं जनकें माता आणि पिता । गेला गेला म्हणती तो हे असता ॥
 अष्टौप्रहर भोगी देहें गेहीं वित्त । सेजेची भार्या पळाली म्हणे भूत भूत ॥
 यापरी जाणोनी सांडी देहप्रीती । एका जनार्दनीं राहे विदेह स्थिति ॥

इसी भावको तुलसीदासने यों स्पष्ट किया है :—

“अरे मन ! समय निकल जानेपर तुझे पछताना पड़ेगा । इसलिए कठिन्तासे प्राप्त होनेवाले मनुष्य-शरीरको पाकर भगवच्चरणारविन्दोंका भजन, कर्म, वचन और हृदयसे कर । सहस्रबाहु और रावण-जैसे महाप्रतापी राजा भी बलवान् कालसे अच्छे नहीं बचे; उन्हें भी कराल कालका ग्रास बनना पड़ा जिन्होंने ‘हम हम’ करते हुए धन और धाम सँभाल-सँभालकर रखे थे, वे भी अन्तसमय यहाँसे खाली हाथही चले गए । पुत्र, स्त्री आदिको मतलबी यार समझ । इन सबसे प्रेम न बढ़ा । क्योंकि ये तेरे सदाके साथी नहीं हैं, न पहले थे और न आगे होंगे । अरे अधम ! जब ये सब तुझे अन्तसमय छोड़ही देंगे तो तू इन्हें अभीसे क्यों नहीं छोड़ देता ? ”

मन पछितै है अवसर बीते ।

दुर्लभ देह पाइ हरिपद भजु, करम, बचन अरु हीते ॥ १ ॥

सहस्र बाहु दसबदन आदि नृप, बचे न काल बलीते ।

हम हम करि धन-धाम सँवारे, अंत चले उठि रीते ॥ २ ॥

सुत बनतादि जानि स्वारथ-रत, न करु नेह सबही ते ।

अंतहुँ तोहि तजेंगे पामर ! तू न तजै अबही ते ॥ ३ ॥

नानकने भी इसी आशयका एक पद लिखा है :—

जगतमें झूठी देखी प्रीत ।

अपने ही सुखसों सब लागे, क्या दारा क्या मीत ॥

मेरो मेरो सभी कहत हैं, हितसों बाँध्यो चीत ।

अंतकाल संगी नहिं कोऊ, यह अचरजकी रीत ॥

मन मूरख अजहूँ नहिं समुझत सिख दै हान्यो नीत ।

‘नानक’ भव-जल पार परं जो गावें प्रभुके गीत ॥

अहा ! मोह भी कितना बली है ! बाल्यावस्था गई, जवानीकी शक्ति गई; परन्तु इस बुढ़ापेमें भी विषय-वासना न गई । भयंकर काल मुंह बाया हुआ है और अब इस विश्वभक्षक कालके जबड़ोंमें जानेके पूर्वचिह्न दिखाई दे रहे हैं ।

आँखोंसे कलेवा भी दिखाई नहीं दे रहा है, कान बिल्कुल जवाब दे चुके हैं, शरीर सूखकर काँटा हो गया है, और उसपर झुर्रियाँ पड़ गई हैं, गर्दन हिलने लगी । दाँत गिर गए हैं, ठोड़ी नाकके निकट आ गई है; कानके बाल सफ़ेद हो गए हैं; परन्तु अब भी इसका विचार नहीं करता कि मैं कौन हूँ ? मेरा कर्तव्य क्या है ? अब भी तू मिथ्या मोह और विषयोंमें फँसा हुआ सुख मान रहा है । तेरी प्रिय स्त्री भी तेरी वासनाओंको तृप्त करते करते थक गई है और अपमान करती है । वेश्या धन लेकर भी तेरा अपमान करती है । तू अपनी संतानके स्नेहमें जल रहा है । अब तू सब तरहसे उदास दिखाई देता है । तेरा बल, धन और स्त्रीका यौवन सब क्षीण हो चुका है । तुझसे किसीको प्रेम नहीं है । अब भी मोह-ममता व विषयासक्तिको छोड़ दे और रामनामका स्मरण कर, जिससे तेरा कल्याण हो; नहीं तो जीवित ही नष्ट हो जायगा । बाल्या-वस्था व यौवनावस्था गये सो गये । अब बुढ़ापा जाकर आनेवाला नहीं । इसलिए भगवत्-स्मरण कर ।

अभंग

डोळां न दिसे न्याहरी । दृष्टी झाली पाठमोरी ॥ १ ॥

अजून काय सारे मोह । मिथ्या विषयाचा संदेह ॥ २ ॥

कानीं बैसतें तें टाळें । आलें प्रेमाचें उटाळें ॥ ३ ॥

आंग वाळलें कांचरी । चंद्रबिंब ढळलें शिरीं ॥ ४ ॥

नाना विषय करी न सुखी । प्रणता स्त्री प्रत्यक्ष थकी ॥ ५ ॥

वेश्या धन घेउनि मोला । स्त्री वार्धक्यां देत टोला ॥ ६ ॥

अग्नि अवचटल्या पोळी । पुत्र नाना स्नेहें जाळी ॥ ७ ॥

मान कापुनी विषय बारी । मरण चढलेंसे शिरीं	॥ ८ ॥
बळ प्रौढी स्त्रीनें धन । क्षीण क्षाला उदासीन	॥ ९ ॥
पाठि बैसविली आवडी । शेखीं नागउनी सोडी	॥ १० ॥
पुरुष वारंक्षयीं नावडे । नेल्या, कानकेसरडे	॥ ११ ॥
दांत पडोनी सांगे गोष्टी । नाका लागते हनुवटी	॥ १२ ॥
मोह ममता सांडी काम । सदा जपे रामनाम	॥ १३ ॥
रामनामीं होईल हित । ये-हवीं बुडालें जीवित	॥ १४ ॥
एका जनार्दन पुरा । बाल तारुण्य न निधे जरा	॥ १५ ॥

यह अभंग चर्पटपंजरीका भाषांतरही प्रतीत होता है । तुलसीदासने विनयपत्रिकामें इसी आशयको इन शब्दोंमें व्यक्त किया है :—

“जवानी चढ़तेही तू कामिनी-प्रेममें फँस गया । स्त्रीकी हवा लगतेही तुझे मस्ती चढ़ आई, आँखें फूट गई । इसीसे तूने धर्ममर्यादाको लात मार दी, गर्भव्यासके समयका पश्चात्ताप भूल गया और लगा फिर पाप कमाने । जो शरीर कीड़ों, राख, विष्ठा, आदिका परिणाम है उसके लिए सारे संसारका शत्रु बन बैठा । दूसरेकी स्त्री, दूसरेका धन, दूसरोंसे द्रोह, यही संसारमें दिनदूना रात चौगुना बढ़ता गया ।”

जोवन जुवती संग रंग रात्यो । तब तू महा मोह मद मात्यो ॥

ताते तजो धरम मरजादा । बिसरे तब सब प्रथम बिषादा ॥

कृमि भस्म-बिट-परिनाम तनु तेहि लागि जग बंदी भयो ॥

परदार परधन द्रोहपर संसार बाढ़ै नित नयो ॥

“देखते देखते बुढ़ापा आ पहुँचा जिसे तूने स्वप्नमें भी नहीं बुलाया था । शरीर जीर्ण हो गया है । बुढ़ापेके कारण रोग और शूल सता रहे हैं । सिर हिल रहा है । इन्द्रियोंकी शक्ति चली गई है । तेरा बोलना किसीको अच्छा नहीं लगता । घरकी रखवाली करनेवाला कुत्तातक तेरा मान नहीं करता । न तुझे कोई खाना देता है, न पानी । इतनी सब दुर्दशा होनेपर भी तुझे वैराग्य नहीं आता । नित्य तृष्णामें फँसता चला जा रहा है ।”

सो प्रगट तनु जर जर जरा बस, व्याधि सूल सतावई ।
 सिर-कंप इन्द्रिय-सक्ति प्रतिहत बचन काहु न भावई ॥
 गृह पालहू तें अति निरादर खान-पान न पावई ।
 ऐसिहु दशा न बिराग तू तूस्ना तरंग बढ़ावई ॥

आज भी विचार कर विषयोंको छोड़ दे और भक्तोंको आनन्द देनेवाले भगवान् रामचन्द्रजीका भजन कर । वे कठिनाइयोंसे पार करने योग्य संसार-सागरके लिए नावरूप हैं । चक्रसुदर्शन धारण करनेवाले देवाधिदेव भगवान्का भजन कर ।

अजहुँ बिचार बिकार तजि भज राम जन मुखदायकं ।
 भव सिंधु दुस्तर जलरथं, भजु चक्रधर सुरनायकं ॥

एकनाथने अपने अभंगमें वृद्धावस्थाके लक्षणोंका बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है । जिस भावको एकनाथने 'दृष्टी झाली पाठमोरी, कानीं वैसेलें तें टाळें, आंग वाळले कांचरी, दांत पड़ोनी, नाका लागते हनुवटी ।' से प्रगट किया है उसे तुलसीदासने 'सो प्रगट तनु जरजर जराबस, सिर-कंप इन्द्रिय-सक्ति प्रतिहत' से व्यक्त किया है । जो भाव एकनाथने 'स्त्री वार्धक्यीं देत टोला ।' से व्यक्त किया है उसे तुलसीदासने 'गृह पालहू तें अति निरादर' से प्रगट किया है । अन्तमें एकनाथने मनुष्यमात्रको यह चेतावनी दी है कि भगवद् भजन किया जाय । यहाँ जिस भावको एकनाथने 'मोह ममता सांडी काम । सदा जपे रामनाम ॥ रामनामीं होईल हित । येन्हवीं बुडालें जीवित ।' से प्रगट किया है उसे तुलसीदासने 'ऐसिहु दशा न बिराग तू तूस्नातरंग बढ़ावई ॥ अजहुँ बिचार बिकार तजि भज राम जन मुखदायकं ।' से व्यक्त किया है ।

संत-महिमा

एकनाथने संत-लक्षण और संत-महिमाका वर्णन कई स्थलोंपर किया है । बालकाण्डमें संतोंकी वंदनामें संतोंकी महिमा बताई है । श्रीरामचन्द्रजीने वसिष्ठजीसे ब्रह्म प्राप्त करनेके उपाय पूछे । उस समय वसिष्ठजीने सत्संगकी महिमाका वर्णन किया है । राजा जनकको जब विश्वामित्रकी भेंटका सौभाग्य प्राप्त हुआ तो जनकने सत्संगकी महिमा बताई है । इसी

प्रकार भरतजी, त्रिजटा, विभीषण और शिवजीने संत-महिमाका वर्णन किया है। एकनाथने अपनी भागवतमें ३५० ओवियोंमें संतोंके लक्षण बताए हैं।

तुलसीदासने भी संतोंकी वंदनाके समय संतोंके लक्षणका वर्णन किया है। अरण्यकाण्डमें नारदने रामचन्द्रजीसे संतोंके लक्षणके विषयमें प्रश्न किया है और श्रीरामचन्द्रजीने श्रीमुखसे संतोंके लक्षण बतलाए हैं। सुन्दरकाण्डमें लंका नाम्नी राक्षसीने संत-महिमा बताई है। उत्तरकाण्डमें फिर रामचन्द्रजीने भरतसे और काकभुशुण्डिने गरुडसे संतोंके लक्षण व महिमा वर्णन की है।

नाथने ग्रन्थके आरम्भमें जो मंगलाचरण लिखे हैं उनमें संतोंका भी महात्म्य वर्णन किया है। वे लिखते हैं :—‘ अब मैं संत-सज्जनोंको नमस्कार करता हूँ, जो दुखी मनुष्यरूपी चातकोंके दैविक, दैहिक और आध्यात्मिक तीनों प्रकारके दुखोंको नाश करनेके लिए मेघके तुल्य हैं जिनकी संगति प्राप्त होनेसे सब कर्मोंसे निवृत्ति और धर्म व शान्ति प्राप्त होती है। भक्त-लोग परमार्थ-लाभ करते हैं। सत्संगसे परमार्थरूपी गौके स्तनोंमें दूध भर आता है और आनन्दका फल सदा फलता रहता है। सत्संगसे जो स्वानन्द-रूपी रसाल फल प्राप्त होता है उससे जन्म-मरणका बन्धन टूट जाता है और आदि, मध्य व अन्तका कोई भगड़ा शेष नहीं रहता। मैं एक अबोध बालकके समान सत्संगकी महिमा वर्णन करनेमें अशक्य हूँ। बिना सत्संगके ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है? अतएव संत-समागममें हरिकथा ध्यानसे सुननी चाहिए।

आतां बंदू ते संत-सज्जन । जे आर्त चातकां चिद्घन ।
 त्रिविध तापा उपशमन । जे निज जीवन साधका ॥ १४ ॥
 ज्यांचो सहज जाल्या संगती । सकळ कर्मा होय निवृत्ती ।
 स्वधर्म स्वच्छान्ती येती । भावार्थे प्राप्ती परमार्था ॥ १५ ॥
 सत्संगाचे निजमेळीं । परमार्थ जाय पालहाळीं ।
 लगडोनि ये स्वानंद-फळीं । सर्वकाळीं सफळित ॥ १६ ॥
 बीजत्वचा न फेडिजे देंठु । आदि मध्य नाकळे शेवटु ।
 स्वानंद रसाल फल घोटु । अनुभव स्पष्ट सत्संगे ॥ १७ ॥

ऐसिया संताचें महिमान । आकळे ऐसैं कैचें ज्ञान ।

बालत्वे बोलिलों तें न्यून । द्यावें अवधान कथेसी ॥ १८ ॥

(बालकाण्ड अ. १)

तुलसीदासने ग्रन्थके आरम्भमें संतोंकी वंदना यों की है :—

“सब गुणोंकी खान ऐसे सज्जनोंके समाजको मीठी दाणीसे और बड़े प्रेमसे प्रणाम करता हूँ । साधु आप दुःख सहकर पराये दोषोंको ढँकता है । वह संसारमें वंदनीय है और प्रशंसाके योग्य है । बिना सत्संगके ज्ञान नहीं होता और रघुनाथजीकी कृपाके बिना सत्संग मिल नहीं सकता । सत्संग आनन्द तथा मंगलरूपी वृक्षकी जड़ है और सब दान, यज्ञ, तप आदि साधन उसके फूल हैं और सिद्धि फल है । तुलसीदासजी कहते हैं कि ‘मैं संतोंको नमस्कार करता हूँ, जिनका चित्त समान होता है, जो सबका कल्याण करते हैं । जिस प्रकार अंजलिमें रखे हुए फूल दोनों हाथोंको सम सुगंध देते हैं उसी प्रकार संत लोग अच्छे-बुरेका विचार न करते हुए सबका कल्याण ही करते हैं ।”

संतजन—जिनका सरल चित्त है—संसारके हित करनेवाले हैं । मेरे स्वभाव व स्नेहको जानकर मुझ बालककी विनति सुन कृपा करके श्रीराम-चन्द्रजीके चरणोंमें प्रीति दें ।

सुजन समाज सकल गुण खानी । करों प्रणाम सप्रेम सुबानी ॥ १ ॥

जो सहि दुःख परछिद्र दुरावा । वंदनीय जेहि जगयश पावा ॥ २ ॥

बिनु सतसंग विवेक न होई । रामकृपा बिनु सुलभ न सोई ॥ ३ ॥

सतसंगति मुद-मंगल-मूला । सोई फल-सिधि सब साधन फूला ॥ ४ ॥

वंदों संत समान चित, हित अनहित नहिं कोय

अंजलिगति शुभ सुमन जिमि, सम सुगंध कर दाय ॥ १ ॥

संत सरल चित जगतहित, जानि सुभाव सनेहु ॥

बाल विनय मुनि करि कृपा, रामचरण रति देहु ॥ २ ॥

एकनाथकी १५ वीं ओवीमें जो भाव वर्णन किया गया है उसे तुलसीदासने चौथी चौपाईमें प्रदर्शित किया है । फिर एकनाथने “बालत्वे

बोलितों तें न्यून । ” से जिस भावको स्पष्ट किया है उसे तुलसीने “ बाल-विनय मुनि करि कृपा । ” से प्रगट किया है ।

जिस भावको तुलसीदासने ‘ अंजलिगति शुभ मुमन जिमि सम सुगंध कर दोय । ’ से व्यक्त किया है उमे ज्ञानेश्वरने नीचेकी ओवीमें बड़ी सुन्दरतासे प्रकट किया है :—जिस प्रकार कमलकी कली खिलनेके बाद अपने सौरभको अपने पास नहीं रखती बल्कि गरीब और अमीर सबको आनन्दसे तृप्त करती है उसी प्रकार सत भी दूसरोंका कल्याण करते हैं ।

जंसी-कमळ-कळिका जालेपणें ।

हृदयोचिया मकरंदातें राखों नेणे ।

दे राया-रंका पारणें । आमोदाचें ॥

श्रीरामचन्द्रजीने वसिष्ठजीसे ब्रह्म-प्राप्तिके उपाय पूछे । श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं कि ‘ यद्यपि मुझे ब्रह्म-प्राप्तिका अधिकार नहीं तथापि आप महा पुरुषार्थी संत हैं और संतोंका यह प्रण है कि वे दीनोंका उद्धार करते हैं । जिस प्रकार चन्दनके साथ-से खैर और धामोड़ेके वृक्ष चंदनके समान हो जाते हैं उसी प्रकार संतोंके साथमें रहनेमे दीनोंको ब्रह्मप्राप्ति हो सकती है । ’

मज नसेल अधिकार । तरी तुम्हीं संत सधर ।

सत्संतीं दीनोद्धार । हें ब्रीद साचार संतांचें ॥ ९३ ॥

चंदनाचे संगतीं । खैर धामोडे चंदन होती ।

तेवि संतांचे संगतीं । ब्रह्मप्राप्ती दीनासी ॥ ९४ ॥

बालकाण्ड अ० ८

एकनाथने युद्धकाण्डमें संतोंके लिए एक बड़ी सुन्दर उपमा दी है । वे कहते हैं कि ‘ पारसको तोड़नेके लिए घन जोर-जोरसे प्रहार करता है ; परन्तु पारस उमे तत्क्षण सुवर्णका बना देता है । चंदनके संसर्गसे खैर, धामोड़, वेहकली, ठाकली, पांगर इत्यादि वृक्ष चंदनसे सुवासित हो जाते हैं । इतना ही नहीं इसमें एक अलौकिक गुण और है । जो चंदनके वृक्षको काटता है वह उमे अधिक सुगन्धित कर देता है । जलानेपर उससे भी

अधिक सुगंध देता है। इसी प्रकार सज्जनोंके लक्षण होते हैं। कपट और द्वेष करनेवालोंके साथ भी सज्जन समभावसे वर्तते हैं।'

परिस फोडावया जाण । सबळबळें हाणितां घण ।

त्यासी करितां सुवर्ण । न लगे क्षण तत्त्वतां ॥ १०३ ॥

खैर धामोडे समग्र । वेहकळी ठाकळी अत्युग्र

आदि करोनि पांगर । जाले समग्र चंदन ॥ १०६ ॥

आणिक गुण अलोकिक । जो छेदावया आला देख ।

त्यासी परिमळ अधिक । जाळी त्या देख त्याहोनी ॥ १०७ ॥

तेवि सज्जनाचें लक्षण । छळें द्वेषभावे पूर्ण ।

जो आला त्यापासीं जाण । त्यासी समाधान सारिखेंचि ॥ १०९ ॥

जिस समय हनुमानजीने काशीसे लिंग लाकर इसकी स्थापना सेतुबंध रामेश्वरमें की उस समय शिवजीने सत्संगकी महिमाका वर्णन किया है :—
“मनुष्य जिस संगतिमें रहता है उसकी छाप उसपर पड़ती है। उसका निजका गुण छिप जाता है और वह संगतिका गुण प्राप्त कर लेता है। यदि कस्तूरीके साथ रखकर प्याजका पौधा लगाया जाय तो कस्तूरीकी सुगंध छिप जाती है और प्याजकी दुर्गन्ध आने लगती है अथवा कुत्तेकी खोपरीमें गेहूँ बोए जायँ तो लहसन पैदा होता है। इसी प्रकार दुष्ट मनुष्योंकी संगतिमें पड़कर मनुष्य अपने गुणोंको खो देता है और संगतिका दुर्गुण ग्रहण कर लेता है। यही हाल सत्संगतिका है। नीच अपने दुर्गुणोंको छोड़कर अच्छे गुण ले लेता है। चन्दनके साथमें रहकर घुरका वृक्ष चन्दनसे सुवासित हो जाता है। इसलिए यदि कोई मनसे, वाणीसे अथवा कर्मसे सत्संगति छोड़कर दुष्ट संगतिमें पड़ जाता है तो नरकको प्राप्त होता है।”

एक संगाचें महिमान । ज्याची संगती धडे पूर्ण ।

तरी त्याचेंही घेऊन उठे चिन्ह । अपुला निज गुण आच्छादी ॥ १७९ ॥

आनें करून कस्तूरीचें । रोप लाविलें पलांडूचें ।

सुवास आच्छादून साचें । दुर्गंधीचें बळ वाढे ॥ १८२ ॥

श्वानखापरी माजीं देख । गोधूम पेरितां सुरेख ।

शुद्धत्व हरपे येकायेक । अशेष होत लसुणची ॥ १८३ ॥

तैंवि दुर्जनाच्या संगें जाण । बुडोनि आपला सद्गुण ।
 त्या लागे असद्गुण । सदाचारी जाण प्रवर्ते ॥ १८४ ॥
 तैसीच सत्संगाची स्थिति । नीच पावती महंती ।
 घुरे ते चंदन होती । जाण संगतीं चंदनाचें ॥ १८५ ॥
 म्हणोनि मनसा वाचा कर्मणा । सत्संगती सांडोनि जाण ।
 असत्संगती करितां पूर्ण । नरक दारुण अंगीं वाजे ॥ १८६ ॥

तुलसीदासजीने संतोंकी महिमाका यों वर्णन किया है । वे कहते हैं कि 'बुरी संगतिमें पड़नेसे हानि और अच्छी संगतिमें पड़नेसे लाभ होता है । यह बात सबको भलीभाँति विदितही है और वेदमें भी बताई गई है । मिट्टी हवाके साथ आकाशमें चढ़ जाती; परन्तु नीच जलके साथ मिलनेमें कीचमें मिल जाती है । संतोंके घरके तोता-मैना रामनाम लेते हैं और दुष्टोंके घरके तोता-मैना गालियाँ देते हैं । सन्त चन्दनके वृक्षके समान हैं और दुष्ट कुल्हाडीके समान । कुल्हाडी चन्दनके वृक्षको काटती है; परन्तु चन्दन उमें अपने गुणमें सुवासित कर देता है ।'

हानि कुसंग सुसंगति लाह । लोकहु वेदविदित सब काह ।
 गगन चढई रज पवन प्रसंगा । कीचहि मिलइ नीच जलसंगा ।
 साधु असाधु सदन सुकसारी । सुमरहि रामु देहि गनिगारी ॥
 संत असंतन कै असि करनी । जिमि कुठार चंदन आचरनी ॥
 काटइ परसु मलय सुनु भाई । निज गुन देइ सुगंध बसाई ॥

एकनाथ और तुलसीदास दोनोंने मत्संगकी प्रशंसा की है और दुष्ट संगकी निन्दा की है । दोनोंके भावों और विचारोंकी साम्यताके साथ साथ दोनोंकी उपमाओंमें भी काफी समानता पाई जाती है । एकनाथने जहाँ "परिस फोडावया जाण । सबळवळें हाणितां घण । त्यासि करितां सुवर्ण ।" लिखा है वहाँ तुलसीदासने "सठ सुधरहि सत संगत पाई । पारस परसि कुषान मुहाई ।" का प्रयोग किया है । इसी प्रकार जहाँ एकनाथने "जो छेदावया आला देख । त्यासी परिमळ अधिक । जाळी त्या देख तयाहोनी ।" लिखा है वहाँ तुलसीदासने "संत असंतन कै असि करनी । जिमि कुठार चन्दन आचरनी । काटइ परसु मलय सुनु भाई । निज गुन देइ सुगंध बसाई ॥" का प्रयोग किया है ।

भावार्थ रामायणकी तरह एकनाथने अपनी भागवतमें भी संतोंके लक्षण वर्णन किए हैं। उद्धवने श्रीकृष्णसे यह प्रश्न किया कि साधुओंके क्या लक्षण हैं ? तो श्रीकृष्णने पाँच श्लोकोंमें इसका उत्तर दिया। इसीका निरूपण नाथने ३५० ओवियोंमें किया है। नाथ लिखते हैं कि 'परोपकार सन्तोंका सहज सुभाव होता है। वे वृक्षके समान हैं जो अपने पत्तों, फूल-फल, छाल, जड़ और छायामें सबका उपकार करते हैं।'।

पत्र पुष्प छाया फल । त्वचा काष्ठ समूढ ।
वृक्ष सर्वांगें सफल । सर्वांसी केवल उपकारी ॥

तुलसीदास इसी भावका वर्णन यों करते हैं:—

संत, वृक्ष, नदी, पर्वत और पृथ्वी सबका जन्म दूसरोंके कल्याणके लिए है। इतनाही नहीं संत, आमके वृक्षके समान हैं जो दूसरोंके लिए फूलने और फलते हैं। इन्हें जो पत्थर मारते हैं उन्हें वे फल देते हैं।

संत विटप, सरिता, गिरि धरनी । परहित हेतु सबन्हकी करनी ।
तुलसी संत सुअंब तरु, फूल फलहिं परहेत ।
इतते ये पाहन हनत, उतते वे फल देत ।

“संतका हृदय नवनीतके समान दयासे पिघल जाता है। उसकी अनार्थोंपर अत्यन्त करुणा होती है और वह दीन-दुखियोंके संकट दूर करनेके लिए तन-मन-धन अर्पण कर देता है।”

दयार्णवें द्रवली वृष्टी । तन-मन-धन बँचूनि गांठी ।
अनाथावरी करुणा मोठी । उद्धरी संकटीं हीनातें ॥

तुलसीदासजीने भी संतोंके हृदयको नवनीतके समान बताया है। नवनीत तो अपनी उष्णतासे पिघलता है; परन्तु संत दूसरोंके दुखसेही पिघल जाते हैं:—

संत-हृदय नवनीत-समाना । कहा कविन्ह परि कहें न जाना ।
निज परिताप द्रवइ नवनीता । परबुख द्रबहिं संत सुपुनीता ॥

क्यों नहीं भजता ? गणिका, अजामिल, गिद्ध, व्याध, गज आदि खल भगवानने तार दिए हैं और भी खल, आभीर, यवन, किरात, श्वपच आदि जो अत्यन्त पापी थे, वे भी एक बार श्रीरामजीके नामको स्मरण करनेसे पवित्र हो गए हैं और होते हैं। ऐसे श्रीरामजीको मैं प्रणाम करता हूँ।’

पाई न गति केहि पतित पावन राम भजु सुनु सठ-मना ।

गनिका अजामिल ग्रथ व्याध गजादि-खल तारेउ घना ॥

आभीर यवन किरात खल स्वपचादि अति अधरूप जे ।

कहि नाम बारिक तेऽपि पावन होत राम नमामि ते ॥

एकनाथने भी गरुडजीका एक उदाहरण दिया है। वे कहते हैं कि ‘श्रीरामनाम धारण करनेके कारण गरुडजीने तीनों लोकको जीत लिया और इसी नामके प्रतापसे महादेवजीके त्रिशूलको निगल लिया। इसी प्रकार गरुडजीने महा दुर्धर विष्णुके चक्रको निगल लिया, जिससे उन्होंने राक्षसोंका नाश किया था।’

त्रिशूल गिळावयाची शक्ती । हे कंची गरुडाप्रती ।

सदाशिव पाहे निश्चिती । हृदयस्थिति श्रीरामनाम ॥ २६ ॥

विष्णुचक्र महामार । घायें निर्वाळित असुर ।

चक्र त्रैलोक्यी दुर्धर । गरुडें तें चक्र गट केलें ॥ ३७ ॥

(अरण्यकाण्ड अ० ७)

३८ वीं ओवीमें एकनाथने वाल्मीकिका उदाहरण दिया है कि ‘उन्हे नाम-स्मरणद्वारा यश प्राप्त हुआ।’ तुलसीदासजीने भी बतलाया है कि ‘मरा मरा’ जपनेपर वाल्मीकि सिद्ध बन गए :—

जान आविकवि नाम प्रतापू, भयउ सिद्ध कर उलटा जापू ॥

गोविंद नाम लेनेसे जो पुण्य होता है उसके बराबर कोई पुण्य नहीं। ग्रहणके समय करोड़ अलंकृत गौओंको दान देनेसे जो पुण्य होता है वह भी रामनामके फलसे कम है। सुवर्ण सींग व चाँदीके खुरवाली बछड़ोंके साथ करोड़ गौओंका दान भी नाम-महिमासे कम है, अथवा दस हजार वर्षतक त्रिवेणी

तीरपर निवास करनेसे जो अगणित फल प्राप्त होता है वह नाम-स्मरणके बराबर नहीं है। एक अयुत सांगोपांग महायज्ञ अथवा मेरु पर्वतके बराबर सोनेके दानके फलसे नाम-स्मरणका फल अधिक होता है। यदि इन सब पुण्योंको एक जगह रखा जाय और दूसरी ओर नाम-स्मरण तो सब पुण्य मिलकर नाम-स्मरणके फलकी तुलना नहीं कर सकते। इसलिए सब देवोंके मुकुटमणि, शिवजीने अपने हृदयमें रामनामको धारण किया और राम-नामरूपी संजीवनीके उपासक बन गए।

गोविंद नामाच्या तुळणेंसी । न येती पुण्याचिया रासी ।
ग्रहणकाळीं कोटि धेनूसी । जरी दिधल्या शृंगारून ॥ ३९ ॥
सुवर्ण शृंगी रौप्य खुरी । सवत्सा आभरणेंसी कोटीवरी ।
दिधल्या फळ नामा बरोवरी । न ये निर्धारीं तुळितांही ॥ ४० ॥
अथवा दशसहस्र वर्षेपर्यंत । त्रिवेणीतीर आश्रयोनि तेथ ।
राहिल्या पुण्य अगणित । नाम तुळणेंसीं पें न ये ॥ ४१ ॥
एक अयुत महायज्ञ । सांगोपांग करोनि जाण ।
अथवा मेरूइतकें सुवर्णदान । दिधल्या नाम-महिमान अधिक ॥ ४२ ॥
इतुकीं पुण्यें एकीकडे । घालितां नामाच्या पारडे ।
तुळणेंसीं न पावें चंद्रचूडें । म्हणोनि हृदयीं धरियेलें ॥ ४३ ॥
आधींच तो पिनाकपाणी । सकळ देवांचा मुकुटमणी ।
तोही राहिला नामसंजीवनीं । उपासक होवोनि नामाचा ॥ ४४ ॥

(उत्तरकाण्ड. अ० ११)

जिस भावको एकनाथने ३९-४३ ओवियोंमें प्रदर्शित किया है उसको तुलसीदासने यों प्रकट किया है:—

“कल्पवृक्षकी सेवासे मन-इच्छित फल प्राप्त होता है। परन्तु कलियुगमें श्रीरामनामके जपसे ही कल्याण होता है। इसी रामनामके स्मरणसे मैं भांगके पौधेसे तुलसीका पवित्र पौधा बन गया हूँ।”

रामनामको कल्प-तरु, कलि-कल्याणनिवास ।

जो सुमिरत भये भांगतें, तुलसी तुलसीदास ॥

एकनाथने ४३ वीं ओवीमें जो उपमा दी है वैसीही उपमा तुलसीदासने संत-समागमके सम्बन्धमें दी है, जहाँ लंका नामक राक्षसी हनुमानजीसे कहती है :—

“हे तात ! स्वर्ग और अपवर्गके सब सुखोंको मिलकर एक पलड़ेमें रखा जाय तो वह सब मिलकर भी एक क्षणके सत्संगसे जो सुख मिलता है उसकी बराबरी नहीं कर सकते ।”

तात स्वर्ग-अपवर्ग सुख, धरिअ तुला एक अंग ।

तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत्संग ।

एकनाथ कहते हैं कि ‘ जन्म-मरणके बन्धनसे छूटनेका ‘ श्रीरामनाम मुख्य साधन है । नाम परिपूर्ण परब्रह्म है । ’

ऐसीया अनुभवैसी जाण । श्रीरामनाम मुख्य साधन ।

नामै निरसे जन्म-मरण । नाम परिपूर्ण परब्रह्म ॥ ६८ ॥

(मुन्दरकाण्ड अ० ६)

एकनाथ नामको परिपूर्ण परब्रह्म बताते हैं तो तुलसीदास रामनामको ब्रह्म और राममें भी बड़ा बतलाते हैं जिसे शतकोटि रामायणोंमेंमें लेकर शिवजीने अपने हृदयमें धारण किया :—

ब्रह्म रामतैं नाम बड, बरदायिक बरदानि ।

राम-चरित शतकोटि महँ, लिय महेश जिय जान ॥

एकनाथ कहते हैं कि ‘ नाम लेनेके लिए न स्नानकी आवश्यकता है और न किसी विधिविधानकी । नामके लिए कोई बन्धन नहीं है । नाम तो पूर्ण परब्रह्म है । स्त्रियोंके लिये रामनाम-स्मरण भूषणका भी भूषण है । रामनाम सुहागका भी सुहाग है । नामसे स्त्री व शूद्र सभी पवित्र हैं । स्त्रियोंका मंगल-सूत्र काली मणियाँ हैं तो पुरुषोंका मंगलसूत्र रामनाम है, जिसके टूटनेसे वैधव्य प्राप्त होता है । ’

नामासी नाहीं स्नानबन्धन । नाहीं नामापासीं बिधि-विधान !

अबद्धनाम अतिपावन । नाम परिपूर्ण परब्रह्म ॥ ७० ॥

स्त्रियांसी रामनाम-स्मरण । तें भूषणाचें निज भूषण ।
 अहेवपणाचें अहेवपण । नामें पावन स्त्री-शूद्र ॥ ७५ ॥
 स्त्रियांसी गळसरी कृष्णमणी । पुरुषा गळसरी नामस्मरणी ।
 ते तुटलिया रांडपणीं । काळ कर्मणी करावी ॥ ७६ ॥

(सुन्दरकाण्ड अ० ६)

फिर एकनाथ कहते हैं कि 'उठते-वैठते, भोजन करते व सांते हरिका नाम पवित्र समझो' :—

आसनीं भोजनीं शयनीं जाण । नाम पावन हरीचें ।

“ आसन, ध्यानका परिश्रम न करते हुए जो रामराम कहता है वह करोड़ों जन्मोंके पापको धो डालता है और उसकी वाणी पवित्र होती है ।”

आसन ध्यान परिश्रम । न कलुनि म्हणे जो राम राम ।

तेणें कोटिजन्मांचा हरे श्रम । उत्तमोत्तम ते वाणी ॥

तुलसीदासने भी इस आशयको यों स्पष्ट किया है : —

वे कहते हैं कि 'भावसे अथवा कुभावसे अनख या आलससे भी जो राम-नाम लेता है उसका सब प्रकारसे कल्याण होता है ।'

भाव-कुभाव अनख आलसहू ॥ राम कहत मंगल दिशि दशहू ।

एकनाथने ऐसे मनुष्यको जिसको रामनाम प्रिय नहीं है महापापी बताया है । वह सब दोषोंका घर है । आकल्प वह नाशको प्राप्त होता है । रामनामका जो सम्मान नहीं करता उसकी बड़ी भारी भूल है । जीते हुए भी वह मरेके तुल्य है और स्पर्श करनेके योग्य नहीं है ।

नाम नावडे जयासी । तो जाणावा पापराशी ।

सकल दोष तयापासीं । क्षयो त्यासी आकल्प ॥ १०३ ॥

रामनाम न माने जयासी । अर्थवाद म्हणे तयासी ।

जिताचि प्रेतत्व त्यासी । स्पर्शो नये तयाला ॥ १०४ ॥

(किष्किंधाकाण्ड, अ० १३)

तुलसीदासने इसी प्रकारके भाव प्रकट किए हैं। वे कहते हैं कि ' जिन्होंने हरिकथा अपने कानोंसे नहीं सुनी उनके कान सर्पके बिलके समान हैं। जिन्होंने अपने नेत्रोंसे संतोंके दर्शन नहीं किए उनके नेत्र मोर-पंखके समान हैं। जिनके हृदयमें हरिभक्ति नहीं वे प्राणी जीवित होते हुए शवतुल्य हैं। जिसने अपनी जिह्वासे रामके गुणगान नहीं किए उनकी जीभ मेंढककी जीभके समान है। '

जिन्ह हरिकथा सुनी नहीं काना। श्रवन रंध्र अहि-भवन समाना।

नयनन्हि संत-दरस नहि देखा। लोचन मोर-पंख कर लेखा।

जिन्ह हरि-भगत-हृदय नहि आनी। जीवत सब समान तेइ प्राणी।

जो नहि करइ राम-गुन-गाना। जीहसो दादुरजीह-समाना।

एकनाथ कहते हैं कि ' जो मनुष्य अपने मुखसे रामनाम नहीं कहता उसका मुख चर्मकुण्ड है और जिह्वा चमड़ेका टुकड़ा है जिसपर असत्यरूपी काँटे जड़े हुए हैं। रामनाम न जपनेवाली वाणीको वे गलित कुष्ठमें ग्रस्त बताते हैं, जिससे असत्यरूपी कुष्ठका पानी बहता रहता है और निन्दाकी दुर्गंध आती है। ऐसी वाणीमें अधर्मके कीड़े पड़ते हैं जो चारों ओर चुलबुलाते रहते हैं। ऐसी वाणी जिसके सामने आती है वह अपना मुँह फेर लेता है और नाक बन्द करके रामनाम कहने लगता है। छोटे-बड़े सब उसपर थूकते हैं। '

राम-नामैवीण जें तोंड। तें जाणावें चर्मकुण्ड।

भीतरों जिह्वा तें चाम-खण्ड। असत्य कांटेड कांटली॥

होकां हरिनामैं विण वाणी। ते गलित कुष्ठें जाली कुष्ठिणी।

असत्य कुष्ठाचें गेलें पाणी। उठी पोहाणी निंदेची॥

ऐसिया वाचेसी रोकडे। पडती अधमचि किडे।

चुलबळती चहूंकडे। मागेंपुढें बळबळती॥

ते वाचा होय ज्या समोर। देखे तो पाठिमोरा ठाके नर।

नाक झांकूनि म्हणे हरहर। लहानथोर थुंकती॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि ' जो मनुष्य रामनाम नहीं जपता उसकी जिह्वा सर्पकी जिह्वाके समान है और मुँह बिलके समान है। जो रामसे प्रेम नहीं करता, विधाता उसपर प्रतिकूल है। '

रसना साँपनि, बदन बिल, जो न जर्पाहि हरिनाम ।

तुलसी प्रेम न रामसों, ताहि बिधाता बाम

गुरु-महिमा

एकनाथके चरित्र और साहित्यमें उनकी निःसीम गुरुभक्ति बड़े महत्त्वकी बात है। उन्होंने मनसा वाचा कर्मणा अपूर्व गुरुसेवा की और सेवाका फल भी उन्हें अपूर्वही मिला। नाथको बारहवें वर्षमें जनार्दनस्वामीका संग-लाभ प्राप्त हुआ। इसके पश्चात् ३०-४० वर्षपर्यंत उनके गुरु जीवित रहे। उन्हें गुरु-सेवाका पूर्ण आनन्द भोगनेको मिला। नाथकी यह धारणा थी कि गुरुद्वारा न केवल ईश्वर प्राप्त होता है अपितु गुरुही साक्षात् परब्रह्म है। उनके निकट वेद जनार्दन, शास्त्र जनार्दन, पुराण जनार्दन, योग जनार्दन, तप जनार्दन, कर्म-धर्म सब कुछ जनार्दनही है। गुरुका नाममात्रही हमारा वेदशास्त्र है—
“गुरुचें नाममात्र तेंचि आमुचें वेदशास्त्र ।” तथा जनार्दनस्वामीकी भेंटसे वेदान्त-सिद्धान्त अनुशीलनके कष्टकी आवश्यकता भी शेष नहीं रही।
“वेदान्त-सिद्धान्त पाहुणें ते आटी । जनार्दन-भेटी निरसली ।” गुरुसेवा, गुरुकृपा व गुरुभक्तिपर नाथने सैकड़ों अभंग व पद रचे हैं। इसके अतिरिक्त सब ग्रन्थोंमें उन्होंने गुरु-गौरवका अत्यन्त प्रेमपूर्वक वर्णन किया है। वे कहते हैं कि ‘परब्रह्मने मेरे कल्याणके लिए जनार्दनरूप धारण किया और ब्रह्मके दर्शन कराए हैं।’

“मनोभाव जाणुनि माझा । सगुण रूप धरिलें वोजा,” दाखविलें ब्रह्म भुवन ।

तुलसीदासने भी गुरुकी महिमा गाई है। वे ग्रन्थके आदिमें कहते हैं कि मैं गुरुके चरणकमलोंको नमस्कार करता हूँ जो मनुष्यरूपमें साक्षात् विष्णु है। वे कृपाके समुद्र हैं। महामोहरूपी अन्धकारको दूर करनेके लिए उनके वचन सूर्यकी किरणोंके समान हैं। जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंसे अन्धेरा मिट जाता है उसी प्रकार गुरुके उपदेशसे हृदयका अज्ञान मिट जाता है।

बंदों गुरु पद कंज, कृपासिन्धु नररूप हरि ।

महा मोह तम पुंज, जासु वचन रविकर-निकर ॥

सद्गुरु बिना ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता । आँखोंसे देखनेका कार्य अवश्य सम्पादन होता है; परन्तु सूर्यके योगके बिना कोई वस्तु दिखाई नहीं देती । नावद्वारा नदीपार की जाती है; परन्तु कर्णधार अवश्य चाहिए । पर्याप्त पानी बरसनेसे पृथ्वी नरम हो जाती है और बीजमें अंकुर फूट जाते हैं; परन्तु जबतक बीज न बोया जाय तबतक फसल तैयार नहीं हो सकती । यदि रत्न कहीं अकस्मात् पड़ा हुआ मिल जाय तब भी रत्न खरा है या खोटा है देखनेके लिए पारखीकी आवश्यकता होती है । उपरोक्त चार दृष्टान्त देते हुए नाथमहाराज कहते हैं कि ' श्रद्धापूर्वक श्रीगुरुकी शरणमें जानेसेही निज सुखानुभव मिल सकता है । जो शब्दशास्त्रमें निपुण है, अनुभवी है और जिसमें शिष्यको समझानेकी शक्ति अच्छी है ऐसाही गुरु शिष्यको कृतार्थ करनेमें समर्थ होता है । '

‘ जो शब्द सानें पारंगतु । ब्रह्मानंदें सदा डुल्लतु ।

शिष्य-प्रबोधनीं समर्थ । यथोचित निज भावें । ’

एकनाथने लिखा है कि ' गुरु ऐसा होना चाहिए जो शरीर रखते हुए भी अहंकाररहित हो, घर रखते हुए भी घरमें आसक्ति न हो । संसारमें लौकिक स्थितिमें रहकर सामान्य मनुष्योंकी तरह भलेही रहे । फिर भी अनन्य भक्तिका आचरण करके शिष्योंको यह उपदेश दे कि वे सब प्राणियोंमें हरिका स्मरण करें । '

देहीं असोनि नाहीं अहंकृती । गेहीं असोनि नाहीं गृहासक्ति ।

शेखीं लोकामाजी लौकिक स्थिति । सुखें वर्तती लोकांसारिखे ॥

ऐसिया पूर्ण प्रतीती । आचरोनि दावी हरिभक्ती ।

हरि भजावा सर्वाभूतीं । हेच शिष्यांप्रती उपदेशो ।

एकनाथने स्वात्मसुख ग्रन्थमें गुरुसम्बन्धमें १०० ओवियाँ लिखी हैं । भागवतमें भी मंगलाचरण गुरुभक्तिसे ओतप्रोत हैं । इसी प्रकार भावार्थ-रामायणमें यत्रतत्र गुरुमहिमा गाई गई है ।

एकनाथने गुरु करनेकी आवश्यकतापर भी जोर दिया है । वे लिखते हैं कि ' जिस ब्रह्मको बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ पहचान नहीं सकतीं, जो विवेकद्वारा

बोधगम्य नहीं है, जहाँ सूर्यका प्रकाश नहीं पहुँच सकता है, जिसका निरूपण वेद नहीं कर सकते उस ब्रह्मका बोध गुरुकी दयासे संभव है ।’

जें काळासी न कळे । जें देखो न सकती बुद्ध्यादि सकळें ।

जेथें विवेकाचे मंद डोळे । गुरु-आज्ञेवीण ॥

जें न प्रकाशे तरणी । जें न बोलवे वेदवचनीं ।

येवढीये वस्तुचा गुरु दानी । दयाळत्वे ॥

तुलसीदासने भी इसी आशयको यों व्यक्त किया ह :—

वे कहते हैं कि ‘ बिना गुरुके ज्ञान नहीं हो सकता, और बिना वैराग्यके भी ज्ञान नहीं होता, वेद और पुराणोंका कहना है कि बिना हरिभक्तिके सुख प्राप्त नहीं हो सकता ।’

बिनु गुरु होय कि ज्ञान, ज्ञान कि होइ विरागु बिनु ।

गार्वाह वेद पुराण । सुख कि लहहि हरि भक्ति बिनु ।

ज्ञानेश्वरने भी इसी प्रकारके भाव व्यक्त किये हैं । वे कहते हैं :— इसमें सन्देह नहीं कि ज्ञानसे मोक्ष प्राप्त होती है; परन्तु ज्ञान स्थिर रहनेके लिये अन्तःकरण शुद्ध होना चाहिये । भगवानने निश्चित बताया है कि वैराग्यके बिना ज्ञान स्थिर नहीं हो सकता ।

तेंसें मोक्ष देईल ज्ञान । येथें कीर नाहीं आन ।

परी तेंचि थारे असें मन । शुद्ध होआवें ॥ ३५ अ० १५

तरी विरक्तीवांचूनि कहीं । ज्ञानासि तगणेंचि नाहीं ।

हें विचारुनि ठाई । ठेविलें देवें ॥ ३६ अ० १५ (ज्ञानेश्वरी)

जिसको जाननेके प्रयत्नमें वेद मौन हो जाते हैं वह परमात्मा मनुष्यको कैसे प्राप्त हो सकता है ? इसका उत्तर देते हुए नाथ कहते हैं कि पूर्वजन्मके पुण्य और पूर्ण अभ्यास करनेवाले दासकोही सद्गुरुकी कृपासे ईश्वरका ज्ञान हो सकता है । जानना व न जानना हरिकृपापरही अवलम्बित है । इसलिए भगवद्भजन करो ।

वेद जाणूं गेला पुढें मौनावला । तें गुह्य तुजला प्राप्त केंचें ॥ १ ॥

पूर्व-सुकृताचा पूर्ण अभ्यासाचा । दास सद्गुरुचा तोची जाणे ॥ २ ॥

जाणणें-नेणणें हरीचे ठिकाणीं । एका जनार्दनीं हरी बोला ॥ ३ ॥

तुलसीदासने इस भावको यों प्रकट किया है। वे कहते हैं कि 'ईश्वरको वही पहचान सकता है जिसपर स्वयं भगवान् कृपा करते हैं। ईश्वरके जाननेपर जीव ईश्वर हो जाता है।'

सो जाने जाहि देहु दिखाई । जानत तुम्हहि तुम्हहि हुइ जाई ॥

श्रीरामने विश्वामित्रसे ज्ञान उपदेश करनेके लिए विनति की तो विश्वामित्रन उत्तर दिया कि "यदि गुरु शिष्यसे स्वयं कहे कि 'तू मेरा उपदेश ग्रहण कर तो लालच बढ़ जानेके कारण गुरुत्व नष्ट हो जाता है। इसलिए शिष्यके बिना पूछे ब्रह्मज्ञान नहीं कहना चाहिए। हे राम ! यदि कोई अधिकारी भी हो तब भी उससे बिना प्रश्न किए जानेपर ज्ञान न कहना चाहिए।"

गुरु स्वयं म्हणे शिष्यास । तूं घे माझा उपदेश ।

तेव्हांचि गुरुत्व पडलें वोस । वाढला असोस गुरुत्वलोभें ॥ ४१ ॥

या लागीं शिष्यें न पुसतां जाण । आपण सांगूं नये ब्रह्मज्ञान ।

जरी राम अधिकारी रत्न । तरी अप्रवर्णी ज्ञान सांगों नये ॥ ४२ ॥

(बालकाण्ड अ० ११)

तुलसीदासने भी इसी आशयको यों स्पष्ट किया है :—

"जिनके हृदयमें रामभक्ति नहीं है उनसे हरिकथा न कहनी चाहिए।"

रामभक्ति जिनके उर नाही । कबहुं न तात कहिय तिन पाही ॥

गीतामें बताया गया है कि 'शिष्यको गुरुसे ब्रह्मज्ञानके लिए बड़ी नम्रतासे प्रश्न करना चाहिए।'

तद्बिद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।

उपदेश्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनः तत्त्वदर्शिनः ।

श्रीरामचन्द्रने वसिष्ठसे ज्ञानकी बात करते हुए कहा है कि 'गुरु-अवज्ञासे धर्म और कर्मका नाश हो जाता है। अपनी गाँठमें केवल अनर्थही रह जाता है। ऐसा प्राणी नरकको प्राप्त होता है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनोंही गुरुके किकर हैं। सद्गुरुसे बढ़कर तीनों लोकोंमें कोई दूसरा नहीं है।'

गुरु अवज्ञेची मात । स्वधर्म-कर्म करी घात ॥
 अंगीं रोकडा वाजे अनर्थ । नरकपात अनिवार ॥ ८१ ॥
 ब्रह्मा आणि हरिहर । तेही सद्गुरुचे किंकर ।
 सद्गुरुहून थोर । नाहीं सत्पात्र तिहीं लोकीं ॥ ८६ ॥

(बालकाण्ड अ० ११)

तुलसीदासने गुरु-अवज्ञाके लिए शिवजीद्वारा ब्राह्मणको शाप दिलाया है ।

गुरुका अपमान बड़ा भारी पाप है । श्रीशिवजी गुरुके अपमानको सह न सके । वे कहने लगे—“ यदि ऐसे दुष्टको मैं दण्ड न दूँ तो श्रुतिमार्ग भ्रष्ट हो जायगा । ”

अति अघ गुरु अपमानता, सहि नहिं सकेउ महेस ॥

जो नहिं करौं दंड खल तोरा, भ्रष्ट होइ स्तुति-मारग मोरा ।

जब वसिष्ठजी रामचन्द्रजीसे कहते हैं कि दशरथ शस्त्रास्त्रविद्या देखना चाहते हैं तो रामचन्द्रजी उत्तर देते हैं कि गुरु, पिता और साधु-सज्जनोंकी आज्ञाका जो उल्लंघन करता है वह अभागी है । वह मनुष्य देह रखते हुए भी पाषाणतुल्य है । गुरु-आज्ञाको सुनतेही शीघ्रही तेजीसे दौड़कर गुरुके निकट पहुँच जाना चाहिए । गुरुकी आज्ञा पालन करनेमें जो समयकी प्रतीक्षा करता है वह बड़ा नीच है । जिसे गुरुवाक्य सुनकर आनन्द नहीं होता वह केवल पशु है । जो गुरुवाक्य संपादन करनेमें आलस्यसे काम लेता है उसे शिष्योंमें गधा समझना चाहिए ।

गुरुवचन-पितृवचन । साधु-सज्जन-आज्ञापन ।

उल्लंघी तो अभागी पूर्ण । तो पाषाण नर-देहीं ॥ ५४ ॥

गुरु-आज्ञेचें उत्तर । ऐकतां धांवे अतिसत्त्वर ।

मुहूर्त पाहे तो पामर । झाला सुमित्र सन्निध ॥ ५५ ॥

गुरुवाक्याचा उल्हास । ज्या नाही तो केवळ पशु ।

शिष्यामाजी तो रासभवेष्ट । ज्यासी आळसू गुरुवाक्यीं ॥ ५१ ॥

(अयोध्याकाण्ड, अ. १)

तुलसीदासने इस भावको यों व्यक्त किया है :—

वे कहते हैं कि 'जो दुष्ट गुरुसे ईर्ष्या करते हैं वे सौ कल्पतक रौरव नरकमें वास करते हैं और फिर त्रिजगयोनिमें प्रवेश करते हैं और हजारों वर्षोंतक दुःख पाते रहते हैं ।'

जे सठ गुरुसन ईर्षा करहीं रौरव नरक कल्प शत परहीं ॥

त्रिजगयोनि पुनि धरहि सरीरा, अयुतजन्म भरि पारवि पीरा ।

फिर तुलसीदासजी कहते हैं कि 'माता, पिता, गुरु और स्वामीकी बातको बिना ही विचारे शुभ समझकर करना चाहिये । जिसको गुरुके वचनोंमें विश्वास नहीं है उसको सुख और सिद्धि स्वप्नमें भी सुगम नहीं है ।'

मातु पिता गुरु प्रभु कै बानी । बिनाहि विचार करिअ सुभजानी ॥

गुरुके वचन प्रतीति न जेही । सपनेहुँ सुगम न सुख-सिधि तेही ॥

त्रिजटा श्रीरामसे कहती है कि 'संसार-सागर पार करने लिए गुरुकी सेवाके सिवाय दूसरा साधन नहीं है । तीर्थोतीर्थ भ्रमण करनेसे, ज्ञान, ध्यान व क्षमासे जो लाभ प्राप्त नहीं होता वह आत्मदर्शन-लाभ गुरु-दर्शनसे प्राप्त होता है । ब्रह्मप्राप्तिका मुख्य व सरल उपाय यह है कि सद्-गुरुका नामस्मरण व मनमें गुरुमूर्तिका ध्यान करे । कानसे गुरुचरित्र सुने और गुरुके चरणोंकी सेवा करे ।'

तीर्था-तीर्थाचिया भ्रमणें । क्षमा नुपजे ज्ञान ध्यानें ।

तो गुरु-भजनासाठीं जाण । आत्मदर्शन लाहिजे ॥ ११ ॥

मुख्य सद्गुरु-नामस्मरण । मनीं गुरुमूर्तीचें ध्यान ।

श्रवणों गुरुचरित्र-श्रवण । करी पूजन-पादसेवा ।

तुलसीदासने गुरुचरण-नखोंको एक दिव्य ज्योति समझा है जो सूर्यके प्रकाशकी तरह हृदयके अज्ञानांध-कारको दूर करती है ।

श्री-गुरु-पद-नख-मणि-गण-ज्योति । सुभिरत द्रव्य-दृष्टि हिय होती ॥

दलन मोह-तम हंस-प्रकास । बड़े भाग्य उर आवहि जासू ॥

एकनाथने गुरुकी महिमाका यों वर्णन किया है कि 'यदि गुरुको चिन्तामणि कहा जाय तो चिन्तामणि चिन्तित मनुष्योंको इच्छित वस्तु देती

है; परन्तु गुरु चिन्ता-निवारण करनेके बाद चिन्ता करनेवाले चित्तको ही चैतन्यस्वरूप कर देते हैं। यदि कल्पवृक्ष कहा जाय तो कल्पवृक्ष उसे ही दान देता है जो इच्छा करता है; परन्तु गुरु निरीहको भी ज्ञान देता है और वह भी बिना किसी प्रयोजनके। कामधेनु भी बिना कामना किए हुए दूध नहीं देती; परन्तु सद्गुरु बिना अभिलाषा किए हुएको भी देते हैं; इसलिए गुरुसे कोई मनुष्य उक्लृण नहीं हो सकता। यदि सद्गुरुके लिए अपना शरीर भी अर्पण कर दिया जाय तो भी उक्लृण नहीं हो सकता।'

चित्तामणि दे चित्तितार्थी। कल्पतरु कल्पिलें देता।

सद्गुरु दे निर्विकल्पता। त्यासी आतां काय द्यावें ॥ ८४ ॥

कामधेनूची दुभणी। कामनारूप त्यांची देणी।

अचिंत्य देणें सद्गुरु-वचनीं। उत्तीर्णता त्या लागोनि केवि होय ॥ ८५ ॥

देह उतराई होऊं सद्गुरुसी। तरी नैश्वर्यता देहासी।

नैश्वर्यासी पै अनैश्वर्यासी। उत्तीर्ण त्यासी घडेना ॥ ८७ ॥

भक्त-महिमा

एकनाथने भक्तका भी बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। भावार्थ रामायणमें भक्तकी महिमाका वर्णन हनुमानजी, प्रभा और सीताजीने किया है।

श्रीरामकी आज्ञासे भरतको आनन्द-समाचार ले जाते हुए हनुमानजीने रामध्वनि सुनकर भक्तका महात्म्य वर्णन किया है। वे कहते हैं कि 'भक्तके हृदयमें निरन्तर भगवानकी मूर्ति मौजूद होती है। भक्तका चित्त रात-दिन ईश्वरका चिंतन करता रहता है। वह संसारसे प्रेम करके रघुनाथजीसे प्रेम करता है। ऐसे भक्तको—जो अपने सिरपर देवतापर चढ़े हुए फूलोंको धारण करता है और उनके चरणोंका तीर्थ हृदयमें धारण करता है और हरिका प्रसाद पाता है—श्रीरामकी मूर्ति ही समझना चाहिए।'

मनीं सतत भरली मूर्ति। चित्तें चिंतन अहोरात्रीं।

बुद्धीचा निश्चय रघुपती। संसार स्फूर्ति सांडोनियां ॥ १०७ ॥

नित्य निर्माल्य मिरवे शिरीं। चरणतीर्थ अभ्यंतरिं।

हरिप्रसाद ज्याच्या उदरीं। तो मूर्तिधारी श्रीराम ॥ ११० ॥

रावणवधके पश्चात् सुग्रीवके साथ सीता श्रीरामके निकट आई। सीताको अब पश्चात्ताप था कि उसने लक्ष्मणका कहना न मानकर लक्ष्मण-जीको रामचन्द्रजीकी सहायताके लिए वनमें भेज दिया। सीताने रामचन्द्र-जीसे आज्ञा लेकर लक्ष्मणसे क्षमायाचना की। वे कहने लगीं कि 'श्रीराम-चन्द्रजी भक्तिके वशमें हैं। वे भक्तोंके हृदयमें निवास करते हैं। इसलिए जिसने रामभक्तकी पूजा की उसने षोडसोपचारसे रघुनाथजीकी पूजा की ऐसा समझना चाहिए। जिसने धीमिश्रित ग्राससे भक्तको भोजन कराकर संतुष्ट किया उसने मानो छः रसोंयुक्त पदार्थोंका नैवेद्य भगवानको अर्पण किया। जिसने श्रीराम-भक्तका विरोध किया उसने मानो श्रीरामसे द्वेष किया और भगवान अमूर्त होकर भी फौरन ही उसका नाश कर देते हैं। प्रह्लादसे विरोध करनेके कारण हिरण्यकश्यपको मौतके घाट उतरने पड़ा। भगवद्-भक्तसे द्वेष करनेवाला अवश्य ही नाशको प्राप्त होता है। दूसरोंकी बात-क्या है? लक्ष्मणको सतानेके कारण श्रीरामचन्द्रजी मेरे पीछे पड़ गए और उस समयसे मुझे तरह-तरहके संकट भोगने पड़े।'।

श्रीराम भक्ताचा अंकित । श्रीराम भक्ताचा विक्रित ।

भक्तां सबाह्य श्रीरघुनाथ । नित्य नांदत सर्वदा ॥ १३३ ॥

मृणोनियां यथार्थ । जेणें पूजिले रामभक्त ।

तेणें पूजिला रघुनाथ । उपचारांयुक्त षोडश ॥ १३४ ॥

घृतप्लुत अवदानों । भक्त सुखविले भोजनीं ।

तेणें षड्रसें करोनी । केला रघुनन्दनीं नैवेद्य ॥ १३५ ॥

जेणें विरोधिले रामभक्त । तेणें विरोधिला रघुनाथ ।

अमूर्त होवोनियां मूर्त । क्षणें घात करी त्याचा ॥ १३६ ॥

प्रह्लादासी विरोधितां । मरण पावला त्याचा पिता ।

भगवद्भक्ताचा द्वेष करितां । विघ्नघातांवर पडा होय ॥ १३७ ॥

इतरांच्या कायशा गोष्टी । सौमित्र छळिलियासाठीं ।

राम लागोनि माझे पाठीं । क्षणें दिग्पटीं लाबिलें ॥ १४० ॥

तुलसीदासने भी लक्ष्मणके शक्ति लगनेपर श्रीरामद्वारा भक्तका महात्म्य वर्णन किया है। वे कहते हैं कि 'मुझे आज न अपने माता-पिताके छोड़नेका दुःख है, न अयोध्या छोड़नेका, न वनवास होनेका और न सीताके हरे जानेका है। मुझे लक्ष्मणके मूर्च्छित होनेका भी कोई सोच नहीं है। लंकाके जलनेका दुःख नहीं है। यदि मेरे हृदयमें कोई सोच है तो विभीषणको अभयदान देनेका।'

तातको सोच न मातको सोचर सोच नहीं मोहि औध तजेको ।
सोच नहीं वनवास भयो, किन सोच नहीं मोहि सीय हरेको ॥
लछिमन भूमि पन्यो नहि सोच, न सोच कछू मोहि लंक जरेको ।
सोच भयो तुलसी इक मोकहूँ भक्त विभीषन-बाँह-गहेको ॥

एकनाथके रामने भक्तकी महिमाके सामने अपनी प्रियतमाको भी कुछ नहीं समझा; तो तुलसीदासके रामने माता-पिता-स्त्रीको गिनाते हुए अपने भाई लक्ष्मणको भी भक्तके पदसे नीचा समझा है, जिसे रामचन्द्रजी सबसे अधिक महत्त्व देते हैं। क्योंकि वे कहते हैं कि :—

सुत बित नारि भवन परिवारा । होहि जाहि जग बारीह बारा ।
अस विचारि जिय जागहु ताता । मिलहि न जगत सहोदर भ्राता ॥

एकनाथमहाराज कहते हैं कि 'भगवद्-भजनसे प्रेम करनेवाला चांडाल उत्तम वर्णके उस मनुष्यसे श्रेष्ठ है जो प्रभुके चरणोंसे विमुख है।'

हो कां वर्णामाजी अग्रणी । जो विमुख हरिचरणों ॥
त्याहनि श्वपच श्रेष्ठ मानी । जो भगवद्-भजनों प्रेमळ ।

जो जातिका नीच है पर भक्तिभावमें परिपूर्ण है उसने मेरे स्वरूपको प्राप्त कर लिया है और तीनों लोकोंमें पूज्य है। विदुर दासीपुत्र थे; परन्तु भक्तिके कारण वे भगवानके अतिप्रिय थे। परमार्थके लिए भक्तिही प्रधान है। जाति-अभिमानसे ईश्वर प्राप्त नहीं होता। चाहे किसी नीचसे नीच जातिका कोई मनुष्य क्यों न हो जिसकी भक्ति मुझमें है उसीको पवित्र समझना चाहिए। भजन द्वारा ही मनुष्य मुझे प्राप्त होते हैं।

जो जातीनें नीचत्वा गेला । परी भक्तिभावे उंचावला ।
 तो मद्रूपता पावला । पूज्य झाला तिहीं लोकीं ॥ २९१ ॥
 विदुर दासीपुत्र तत्त्वता । भावे पढिया भगवंता ॥
 भावो प्रमाण परमार्थ । जात्यभिमानता सरेना ! ॥ २९५ ॥
 भलता हो भलते जातीं । ज्यासी माझी भावार्थ भक्ती ॥
 तोचि जाण पां पवित्र मूर्ती । माझी प्राप्ती मद्भजनें ॥ २९७ ॥

फिर भगवान कहते हैं कि यद्यपि गधा चंदनके बोझको ढोता है तो भी चंदनकी सुगंधको नहीं पहचान सकता; उसी प्रकार मेरी भक्ति बिना विद्या व शास्त्रका ज्ञान केवल भारही है ।

चन्दन-भार वाहे खर । परी तो नेणें सुवासाचें सार ॥
 माझेनि भक्तीशीण विद्याशास्त्र । केवळ भारवाहक ॥ ३०३ ॥

तुलसीदासने भी भक्तिका वर्णन इसी प्रकार किया है :—

“ श्रीरघुनाथजी काकभुशुण्डिसे कहते हैं ‘कि भक्तिसे रहित ब्रह्मा भी क्यों न हो; वह मुझे सब जीवोंके समान साधारण प्यारा है । भक्तियुक्त चाहे जैसा नीच प्राणी हो; वह भी मुझे प्राणोंके समान प्यारा है ।’

भक्तिहीन विरंच किन होई । सब जीवन समप्रिय मोहिं सोई ।
 भक्तिवंत अति नीचौ प्राणी । मोहिं प्रान प्रिय सुन मम बानी ॥

एकनाथमहाराज कहते हैं कि ‘भगवानकी भक्तिका सुख जो मनुष्य नहीं जानते उनसे भगवान किस तरह मिल सकता है ! ईश्वरप्राप्तिका एक ही अप्रतिम साधन है और वह है भक्ति । भगवान श्रद्धासे किए हुए भजन-पर संतुष्ट होते हैं ।

हरिभक्ति-सूख जे नर नेणती । त्यांसी भक्तपती केवीं भेटे ।
 भक्तिच कारण भक्तिच कारण । यापरतें साधन नाहीं नाहीं ।
 एका जनार्दन कीर्तन-गजर । भावें हरीहर सन्तोषती ॥

तुलसीदासने भी इस भावको प्रकट करते हुए कहा है कि ‘प्रेम भक्तिरूपी जलके बिना हृदयके अन्दरके कलुषित विचार धोए नहीं जा सकते । वही मनुष्य सब जाननेवाला चतुर व पंडित है और वही कुशल व

सब शुभ लक्षणोंसे युक्त और सच्चा ज्ञानी व गुणी है जिसको श्रीरामके चरण-कमलोंमें प्रेम हो । '

प्रेम भगतिजल बिनु रघुराई । अभि-अन्तर-मल कबहुँ न जाई ॥
सोइ सर्वग्य तग्य सोइ पण्डित । सोइ गुन गृह विग्यान अखण्डित ॥
दच्छ सकल लच्छन-जुत सोई । जाके पद-सरोज-रति होई ॥

मनुष्य-देहकी महिमा

नाथमहाराज कहते हैं कि ' मनुष्यदेह बड़े पुण्यसे प्राप्त होती है । इस लिए जो मनुष्य इस शरीरको पाकर भगवानकी भक्ति नहीं करता वह अपना जन्म व्यर्थ गँवाता है । अनेक जन्मोंके पुण्योंके फलसे ही भगवद् उच्चार मुखसे होता है । चाहे कोई राजा हो या फकीर; ऊँच हो या नीच; भक्तिके बिना उसके मुँहमें मिट्टी ही पड़ती है । हरिहर अथवा रामनाम कहनेसे मनुष्यके पीछे सायुज्य-मुक्ति दौड़ती आती है । '

बहुतां सुकृते नर-देह लाधला । भक्तिवीण गेला अधोगती ।
बाप भाग्य कसैं न सरेचि कर्म । न कळेची वर्म अरे मूढा ।
अनेकां जन्मांचें सुकृत पदरीं । त्याचे मुखीं हरी बैठा होय ।
राव रंक हो का, उंचनीच याती । भक्तिवीण माती मुखीं त्याच्या ।
एका जनार्दनीं हरी हरी म्हणतां । मुक्ति सायुज्यता पाठों लागे ।

तुलसीदासने भी मनुष्य-देहको मोक्षका साधन एवं ज्ञान, वैराग्य व भक्तिको देनेवाला बताया है । इस शरीर द्वारा मनुष्य दुरे कर्म करनेसे नरकमें जाता है और अच्छे कर्म करनेसे स्वर्गमें जाता है अथवा मोक्ष पाता है । इसलिए इसे नरक स्वर्ग, और अपवर्गकी नसेनी कहा गया है । जो इस मनुष्य-शरीरका सदुपयोग नहीं करता वह सदा पछताएगा ।

बड़े भाग मानुष-तन पावा । सुर-दुर्लभ सब ग्रन्थन्हि गावा ।
साधन धाम मोच्छकर द्वारा । पाइ न जेहि परलोक संवारा ।
सो परत्र दुःख पावइ सिर धुनि धनि पछिताइ ।

नर-तन-सम नहिं कवनिउ देही । जीव चराचर जाचत तेही ।

नरक-स्वर्ग-अपवर्ग-निसेनी । ज्ञान-विराग-भगति सुभ देनी ।

सो तनु धरि हरि-भर्जहिं न जे नर । होहिं विषयरत मन्द मन्दतर ।

काँच किरिच बदलें ते लेहीं । करते डारि परस मनि देहीं ।

एकनाथने 'बहुता सुकृते नरदेह लाधला ।' जहाँ उपयोग किया है वहाँ तुलसीदासने 'बड़े भाग मानुष-तन पावा ।' लिखा है । इन दोनोंमें कितना साम्य है !

भक्ति और मुक्ति

भक्ति और मुक्तिके निकट सम्बन्धको नाथमहाराजने अपने अभंगोंमें वर्णन किया है । वे कहते हैं कि 'भक्तिसे मुक्ति सहजही प्राप्त होती है, अतएव भक्ति मुक्तिसे अधिक महत्त्व रखती है । यदि भक्ति माता है तो मुक्ति पुत्री है । ये समझकर हे प्राणियों ! भगवानका भजन करो । भक्ति छोड़कर जो लोग मुक्ति चाहते हैं वे पागल हैं । कहीं मिठास गुड़से अलग रह सकता है ? जो मुक्ति, भक्तिसे प्राप्त होती है उसके प्राप्त करनेके लिए इधर-उधर क्यों भटकता है ? श्रद्धासे भक्ति और मुक्ति दोनों प्राप्त है । भावसेही परमात्मा प्राप्त होता है । इसमें सन्देह करनेकी जरूरत नहीं है । श्रद्धासे भक्ति मिलती है । श्रद्धाहीसे ब्रह्मकी प्राप्ति होती है और इसीसे आत्मसुख प्राप्त होता है । ब्रह्मप्राप्तिका भक्तिही एक अद्वितीय साधन है जो सच्चिदानन्दको पहचाननेका राजमार्ग है ।

भक्तीच्या पोडा मुक्ति पें आली । भक्तीनें मुक्तीतें वाढविलें ॥ १ ॥

भक्ति ते माता, मुक्ति ते दुहिता । जाणोनि तत्त्वतां भजन करो ॥ २ ॥

भक्ति सोडोनी मुक्ति वांच्छितो वेडी । गूळ सोडोनी कंसी जे गोडी ॥ ३ ॥

संतोषोनी भक्ति ज्यासो दे मुक्ति । तोचि लाभे, येर व्यथं कां शिणती ॥ ४ ॥

एका जनार्दनीं एक भाव खरा । भक्ति-मुक्ति दाटूनी आलिया घरा ॥ ५ ॥

भाव तोचि देव, भाव तोचि देव । ये अर्थी संदेह धरूं नका ॥ ६ ॥

भावं भक्ति फळे, भावं देव मिळे । निज भावं सोहळे स्वानंदाचे ॥ ७ ॥

एका जनार्दनीं भावाच्या आवडी । मनोरथ कोडीं पुरती तेणें ॥ ८ ॥

भावची कारण, भावची कारण । यापरतें साधन नाहीं नाहीं ॥ ९ ॥

एका जनार्दनीं भावची कारण । सच्चिदानंदावरील दावी खूण ॥ १० ॥

तुलसीदासने भी मोक्षसे भक्तिको अधिक बताया है । वे कहते हैं कि ' भगवानकी सगुण उपासना करनेवाले मोक्ष नहीं चाहते । वे स्वर्ग और अपवर्गको तृण समझते हैं । '

सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं । तिन कहुं राम-भगति निज देहीं ॥

बार बार करि प्रभुहि प्रनामा । दसरथ हरिष गए सुरधामा ॥

प्रोति सदा सज्जन-संसर्गा । तूनसम विषय स्वर्ग-अपवर्गा ॥

भगति पच्छ हठ नहीं सठताई । दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई ॥

— अन्यत्र एकनाथ कहते हैं कि ' हे प्रभु ! यदि आप मुझसे सन्तुष्ट होकर माँगनेके लिए कहें तो मैं यही माँगूंगा कि सिवाय आपके मुझे कुछ नहीं चाहिए । न मुझे वैकुण्ठ चाहिए, न मोक्ष; केवल इतनी कृपा कीजिए कि मैं आपका साक्षात्कार प्राप्त कर सकूँ । यदि मैं आपसे कुछ और माँगू तो मुझे दण्ड दीजिए । यदि आप मुझे वैकुण्ठ देंगे तो वह तुच्छ-सी वस्तु है । क्षीर-सागरमें शेषशय्यापर शयन करनेवाले प्रभु, इतनेसे होताही क्या है ! मोक्ष देने और लेनेवाले दोनोंही लज्जास्पद हैं । क्योंकि जब भगवान प्रसन्नही हो गए तो भक्तके रोमरोममें भगवान निवास करने लगता है । आप तो सबके हृदयमें निवास करते हैं । यदि आप मुझे अपना साक्षात्कार नहीं कराते तो कम-से-कम यह वरदान दीजिए कि मैं आपके अखंड कीर्तनमें प्रेम करूँ और मुझे सदा सत्संग प्राप्त हो; चाहे सबसे छोटाही बना दें । मुझे कोई आपत्ति न होगी । '

देव तुष्टला माग वेगें । तुजवांचूनी आन नेघें ॥

देवा इतुकी कृपा करीं ॥ जे मी तूझा घोट भरीं ।

आणि रु कांहीं मागें जरी । तरी मज दंडावें दातारी ।

वैकुण्ठ देई न रे एका । तो तंव फोडीव कुटका ।

क्षीरसागर शेषशयनी । काय चालवीशी इतुकेनी ।

सोहं पद विसावनें । देतां-घेतां लाजिरवाणें ॥

एकाजनार्दनीं तुष्टला । देव सर्वांगीं घोटला ॥

सर्वाभूतीं तूझें रूप । हृदयीं सिद्धिचि स्वरूप ॥

इतकें देई अधोक्षजा । नाहीतरी घोट भरिन तुझा ॥

अखंड कीर्तनीं अनुरागु । सदा द्यावा संत-संगु ।

सकळांहूनी करीं सहान । सकळी माझें समाधान ॥

अनन्य भक्ति

एकनाथ भगवानके अनन्य भक्त थे। एक स्थानपर उन्होंने कहा है कि 'संपूर्ण ब्रह्माण्डके स्वामीको सबकी चिन्ता है। अतएव हे जीव ! तू भक्तिसे ईश्वरका नामस्मरण कर। तू किसी बातकी चिन्ता मत कर। क्योंकि लक्ष्मीपति भगवान तुम्हारी प्रत्येक आवश्यकताको जानता है। वह सब प्राणियोंकी देखभाल करता है, फिर तुम्हें क्यों विमुख रखेगा ? जिस हालतमें हो उसीमें भगवानपर भरोसा किए पड़ा रह। भगवानकी कृपासे प्रारब्धके भोगका नाश हो जायगा और तुम्हें आनन्द प्राप्त होगा।' १

आवडीनें भावें हरोनाम घेसी। तुझी चिंता त्यासी सर्व आहे।
नको खेद धरूं कोणत्या गोष्टीचा। पती लक्ष्मीचा जाणतसे ॥
सकळ जीवांचा करितो संभाळ। तुज मोकलील ऐसें नाहीं ॥
जैशी स्थिति आहे तैशापरी राहें। कौतूक तूं पाहे संचीताचें ॥
एकाजनार्दनीं भोग प्रारब्धाचा। हरीकृपें त्याचा नाश झाला ॥
इस पदमें गीताके इस श्लोककी छाया पाई जाती है :—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

इसी भावको एक हिन्दी कविनें इस प्रकार प्रदर्शित किया है :—

जब दाँत नहीं तब दूध दियो, जब दाँत दिये तो का अन्न न दे हूँ।

जो जलमें थलमें नभमें, सबकी सुधि लेत सो तेरी हूँ ले हूँ।

काहे कों सोच करं मन मूरख सोच करं कछु हाथ न ऐ हूँ।

जान कों देत अजान कों देत, जहान कों देत सो तोऊ कों दे हूँ।

तुलसीदासने भी इसी आशयको यों स्पष्ट किया है वे कहते हैं कि 'जो मनुष्य सब भरोसा छोड़कर श्रीरामजीका भजन करता है और प्रेम-सहित श्रीरामके गुण गाता है वह निःसंदेह संसारसे तर जाता है। कलियुगमें श्रीरामनामका प्रताप प्रकट है।

सब भरोस तजि जो भजु रामहिं। प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहिं ॥

सो भव-तर कछु संशय नाहीं। नाम-प्रताप प्रकट कलिमाहीं ॥

